'परीक्षा' की उपक्रमणिका

★

[प्रथम भाग]

★ साहित्य-सृजन की दिशा में पहला कदम....

किशोर-युवक वर्ग की प्रतिनिधि साहित्यिक संस्था कुमार साहित्य परिषद् गत दस वर्षों से नियमित रूप से अर्थ और साधनों के अभाव में भी सांस्कृतिक चेतना की भूमिका तैयार करने में संलग्न रही है। हिन्दी के प्रचार-प्रसार और साक्षरता आन्दोलन के पश्चात् अब साहित्य-सृजन की दिशा में नई पीढ़ी को अग्रसर करने में परिषद् ने ठोस कदम उठाये हैं ताकि वह सर्वांगीण प्रगति कर सके। अभी तो यह कदम सागर के किनारे बैठ कर लहरें गिनने मात्र की कल्पना की तरह ही है जब कि पूरा सागर पार कर मंजिल के दूर किनारे तक पहुँचना शेष है। उस ओर हम सदा ही सजग और सक्रिय रहेंगे, ऐसा हमारा दृढ़ संकल्प है।

'परीक्षा' का प्रकाशन साहित्य सृजन की दिशा में परिषद् का नया और पहला ही कदम है। स्वाभाविक तौर पर अभाव और दोष मिलेंगे पर इतना कहने में रत्ती भर भी हिचकिचाहट नहीं होगी कि श्री नेमिचन्द्रजी 'भावुक' की दिलतोड़ मेहनत और रात-दिन एक कर व्यस्त कार्यक्रम में भी साधना में डूबे रहने की गजब की शक्ति के कायल हुए बिना नहीं रह सकते। इसलिए ही आज उनका अपना एक विशेष व्यक्तित्व बनता जा रहा है। यदि मैं श्री० 'भावुकजी' की नई पीढ़ी के लिये रात-दिन की लगातार संघर्षों के बावजूद भी रचनात्मक और प्रेरक प्रवृत्तियों के प्रति यदि आभार प्रकट नहीं करूँ तो मेरे अपने प्रति ही अन्याय होगा। आदरणीय श्री देवराजजी उपाध्याय का आशीर्वाद तो सदा ही हमारे लिये वरदान रहा है और रहेगा। 'परीक्षा' के लेखकगण तो हमारे लिए शक्ति के प्रतीक हैं और उन्हीं के सक्रिय सहयोग और समर्थन से परिषद् के भविष्य में चमक आ पा रही है। सहयोगियों और शुभचिन्तकों के प्रति भी हम आभारी हैं। श्री भवानी प्रिंटिंग प्रेस के मालिक श्री लक्ष्मीनारायणजी देवड़ा के प्रति भी

आभारी हैं जिन्होंने हमारे साधनों के अभाव में भी सहयोग दे कर अपना हिन्दी-प्रेम का परिचय दिया।

अन्तर्प्रान्तीय परिषद् के अध्यक्ष श्री हरिकृष्ण 'प्रेमी' जी की प्रेरणा ने दिशा-दर्शन दे कर हमें गतिशील बनाया।

सभी को निमन्त्रण है कि वे 'परीक्षा' सम्बन्धी अपने सुझाव भेजें ताकि भविष्य में जहाँ हम उन अनुभवों से सुधार के पथ की ओर बढ़ते रहें।

यह जानकारी देते हुए प्रसन्नता होती है कि सुविधायें प्राप्त करते ही हम राजस्थानी भाषा, राजनीति-विज्ञान, प्रतिनिधि व्यंगचित्र और चित्रकार (कार्टून्स और कार्टूनिस्ट्स) आदि से सम्बन्धित साहित्य प्रकाशित करेंगे।

परिषद् के त्रैमासिक 'नव निर्माण' का तो अभिनन्दन है ही जिसके सौजन्य से 'परीक्षा' की सारी सामग्री प्राप्त की जा सकी है।

सभी के सहयोग और समर्थन की आकांक्षा के साथ—

पहली मई, १९५४
अन्तर्प्रान्तीय कुमार साहित्य परिषद्,
जोधपुर

आपका विनम्र,
ज्ञानचन्द जैन
(संयोजक--प्रकाशन विभाग)

'परिषद् का आदर्श क्या कम गौरव की बात है?'

[भूमिका लेखक—हिन्दी के प्रसिद्ध आलोचक और शिक्षाशास्त्री प्रो० देवराज उपाध्याय एम० ए०, संस्कृत, हिन्दी और इतिहास]

❖

आजकल विद्यार्थियों के लिये परीक्षोपयोगी सामग्री के प्रकाशन का अभाव नहीं। एकाधिक पत्र-पत्रिकाएं निकल रही हैं जिनका ध्येय विद्यार्थियों को परीक्षा में सहायता देना है। इनमें प्रकाशित सभी सामग्री हीन कोटि की ही होती हो ऐसी बात नहीं। कुछ अच्छी भी हैं और कुछ बुरी भी। हम अपने विद्यार्थी जीवन में इतिहास की परीक्षा देने के लिये एल० मुखर्जी के नोट्स पढ़ा करते थे और इनमें कुछ ऐसा आकर्षण था, कुछ ऐसी सुविधा की बातें थीं कि अध्यापक लोगों के लाख मना करते रहने पर भी ये नोट्स गर्म गर्म पकौड़ियों की तरह हाथों हाथ लुट जाते थे। मुझे ऐसा लगता है कि आज जो परीक्षोपयोगी सामग्री के रूप में पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन है वह उसी नोट्स पढ़ने वाली प्रवृत्ति का आधुनिक, पर कुछ उच्चतर स्तर का संस्करण है। वे नोट्स विद्यार्थियों के हाथ में सफलता की एक सस्ती कुञ्जी देने का दावा कर उनके अन्दर एक सस्ती पलायनवादी मनोवृति पैदा करती थी, जीवन में उड़ कर प्रहार करने और प्रहार लेने वाली मनोवृत्ति से मुड़ कर कतरा जाने वाली मनोवृति। पर आज यह परिवर्तित रूप में आ कर हमें सहायता तो देती हैं पर झूठे भुलावे नहीं। वे पाठ्य-पुस्तकों को ताख पर रख देने की बात नहीं कहती। वे कहती हैं कि हम से सहायता तो जहाँ तक हो सके लो पर यह सहायता तभी ही फलवती होगी जब उसके बीज तैय्यार जमीन पर पड़ेंगे और वह जमीन तैय्यार होगी तुम्हारी पाठ्य पुस्तकों की खाद पर। यह प्रवृत्ति शुभ है और उचित रूप से निबाहे जाने पर अनेक रूप से फल-प्रसू भी हो सकती है। यों दुरुपयोग किसका नहीं होता!

इस ओर इधर जितने प्रयत्न हुए हैं उनमें 'परीक्षा' का विशिष्ट स्थान है। यही इसकी अच्छाई भी, चाहे तो इसकी कमी भी कह लीजिये पर है यह

इसकी विशिष्टता ही, निजत्व ही, अपनापन ही जो इससे और सबों से अलग श्रेणी में ला देती है। इसके जितने लेखक हैं वे किसी न किसी रूप में परीक्षा से सम्बन्धित हैं—या तो परीक्षा लेने वाले हैं या देने वाले। आगे बढ़ कर यह भी कहा जा सकता है कि देने वाले ही अधिक हैं लेने वाले कम, दाल में नमक के बराबर। अतः इन लेखकों को परीक्षा की आवश्यकताओं का, कठिनाईयों का व्यक्तिगत और साक्षात् अनुभव है। इन्होंने स्वयं परिश्रम किया है, पढ़ा है, सामग्री एकत्र की है और विनम्र भाव से अपने ही तरह परीक्षा की घड़ियों से गुजरने वाले मुक्तभोगियों के सामने उपस्थित की है। मैं अनेक अपने को परीक्षोपयोगी कहने वाली पत्रिकाओं को जानता हूं जिनमें परीक्षा के नाम से लेखक लोग बुजुर्गाना ढंग से पाठकों से बातें करने में ही अपना गौरव समझते हैं। विद्यार्थी-पाठक बेचारा उनको पढ़ कर ही आतंकित हो जाता है, उस पर लेखों का रोब गालिब अवश्य हो जाता है पर विद्यार्थी को क्या लाभ होता है यह विद्यार्थी का हृदय ही जानता है। हर्ष है 'परीक्षा' अपना रोब किसी पर नहीं गाँठने आई है। यह विद्यार्थी की चीज है परीक्षार्थियों की भाषा में। मैं तो कभी कभी अपने एक विद्यार्थी को ही अपनी कक्षा में पढ़ाने का अवसर देता हूँ और मैंने पाया है कि इससे उन्हें लाभ ही रहता है। वे मुझ से रुआब नहीं पढ़ाते। 'परीक्षा' में यदि बड़े बड़े डाक्टर, उपाधिधारी और बड़े बड़े प्रोफेसरों के ही लेख रहते तो यह भारी भरकम अवश्य जान पड़ती पर साथ ही पढ़ने वालों को दबोचती भी। यह 'परीक्षा' शिलाधर्मी न हो कर आकाशधर्मी है यह उन्नति को पत्थर की तरह दबा नहीं देती, आकाश की तरह फूलने का अवसर देती है।

मैंने 'परीक्षा' को बड़ी दिलचस्पी ले कर पढ़ा है। इसकी त्रुटियों से [illegible] नहीं हूँ पर इसकी सचाई और सम्पादक की लगन का [illegible] अधिक है। मैं ही क्या, सारे प्रान्त का साहित्य-जगत् भी 'भावुक' परिश्रमी और कर्मयोगी पर गर्व करता है। फिर परिषद् ने साधनों के [illegible] में भी एक आदर्श रखा है, क्या यही कम गौरव की बात है? अब [illegible] ही कहना है।

❖

• एक ही दृष्टि में—

रहस्यवाद और छायावाद

सुश्री शीला तनेजा, साहित्यरत्न

जगत संस्कृति के मेघों में छिपी हुई उन्नीसवीं शताब्दी की विज्ञान की दमकती हुई चपला ने उस हिन्दी साहित्य मर्मज्ञों को चकाचौंध में डाल दिया। वैज्ञानिक सत्य ही ध्रुव-सत्य समझा जाने लगा। इन्द्रियगोचर होना ही वास्तविकता का मान-दण्ड बन गया। पश्चिमी वैज्ञानिकता का प्रभाव बेचारे भारत पर भी पड़ा। उपयोगितावाद की तूती बोलने लगी। बाह्य दिग्दर्शन की प्रवृत्ति ही शिक्षा और विद्वत्ता की कसौटी मानी जाने लगी। बस फिर क्या था, 'जीवन' वादों से घेरा गया। समाज के साथ साथ साहित्य पर भी उसका प्रभाव पड़ना अवश्यम्भावी था। साहित्यमाला भी वादों के पुष्पों से पिरोई गई। आलोचकगण वादों की कसौटी पर ही काव्य का नाप तोल करने लगे।

रहस्यवाद—यह दृश्य जगत नाम रूपात्मक है जिसे हम बाह्य दृष्टि से देख सकते हैं। परन्तु सृष्टि के पीछे छिपे हुए उस छलिया को देखने की जिज्ञासा जब उत्पन्न होती है, तभी रहस्यवाद की सृष्टि होती है। जिज्ञासु ज्ञान मार्ग का पथिक हो कर चिन्तन के द्वारा परमात्मा के मिलन के आनन्द को प्राप्त करता है। साधक के लिये उस स्वर्गीय आनन्द की अभिव्यक्ति गूंगे के गुण के समान है। तभी तो कबीर ने कहा है—

> 'अकथ कहानी प्रेम की कछु कही ना जाय।
> गूंगा केरी सरकरा बैठा ही मुसकाय॥'

आनन्द का सागर जब उमड़ पड़ता है, तब उसका प्रभाव किसी न किसी भाषा में व्यक्त होता ही है। कभी कभी उद्वेलित हृदय की भावनाएँ मीरां के से गीतों में प्रकाश पाने लगती हैं। यद्यपि वह सत्ता वाणी की पकड़ में नहीं आती 'एक कहूँ तो है नहीं, दोय कहूँ तो गारि' तथापि बिना कहे हृदय की उमंग पूरी नहीं होती। हृदय में एक उत्कण्ठा, एक टीस भावों का उद्रेक करती रहती है। प्रेम की पूर्ण व्यंजना तो नहीं होने पाती 'याही सो अधखिली रही यह प्रेम की कली है' तो भी कुछ न कुछ व्यंजना अवश्य होती है। भावाधिक्य के ही कारण रहस्यवाद की भावनाओं का प्रस्फुटन कविता में हुआ है, और साधक अपने नश्वर अनुभव को सांकेतिक भाषा में अलौकिक भावों को व्यक्त करता है—

एक सरसरी दृष्टि में

कामायनी

श्री रूपचन्द पारीक 'मानव'

★

काव्य में 'शाश्वत सत्य' की छाप उसकी अमरता की सर्वश्रेष्ठ कसौटी है। यों तो काव्य सामान्य कथानक ले कर भी चल सकते हैं पर महाकाव्य का कथानक भी महत्त्वपूर्ण होना अच्छा समझा जाता है। Dante की Divine Comedy और Milton के Paradise Lost भी कथानक का गौरव ले कर चले हैं।

कामायनी हिन्दी के ही नहीं अपितु विश्व के अमर काव्यों में अपना स्थान सुरक्षित रखेगी यह बात उसे एक बार पढ़ते ही मन में घर कर जाती है।

'प्रसाद' उच्चकोटि के कहानीकार, नाटककार, उपन्यासकार और आलोचक हैं पर कामायनी ने यह सिद्ध कर दिया कि 'प्रसाद' सर्वप्रथम कवि हैं और बाद में कुछ अन्य। इस विशद् ग्रन्थ में प्रसाद की समस्त वृत्तियों का समाहार हो गया। सच तो यह है कि 'तितली' और 'कामना' में भी 'प्रसाद' का सुनहला रूप 'कामायनी' में प्रस्फुटित हुआ। कामायनी विशुद्ध कलात्मक महाकाव्य का (Epic of Art) है।

कामायनी का विषय भारतीय इतिहास की प्राचीनतम घटना जल-प्लावन की है। यह घटना केवल घटना (कल्पना) ही नहीं बल्कि ऐतिहासिक सत्य भी है जिसका प्रमाण विश्व के विभिन्न धर्मग्रन्थों में मिलता है। कामायनी में केवल कथा ही की प्रधानता न हो कर विचारधारा भी है। कवि रूपकों द्वारा अपनी विचारात्मकता को प्रश्रय देता है और ... विकास की ओर कटिबद्ध रहता है।

प्रसाद की अपनी मौलिक विशेषता है। उनके स्त्री पात्र कभी पुरुषों की देश की रक्षा के लिए अग्रसर करती हैं, कभी उनके साथ प्रेम के कुंजों में विहार करती हैं, कभी गाविका बनती हैं और कभी जादूगरनी। इस तरह नाटक के पुरुष पात्र नारियों की सुकुमार कोमल मनोवृत्तियों के सहारे जीवन के विराट रंगमंच पर नृत्य करते हैं। देवसेना, विजया और अनन्तदेवी इस तथ्य का प्रमाण हैं।

अब मैं स्कन्दगुप्त के प्रमुख पात्रों का संक्षिप्त चरित्र-चित्रण करूँगा।

स्कन्दगुप्त—स्कन्दगुप्त नाटक का नायक है। सर्व प्रथम वह हमारे सम्मुख राजसत्ता से उदासीन एक सैनिक के रूप में आता है। वह कहता है "अधिकार-सुख कितना मादक और सारहीन है। .....ऊँह! जो कुछ हो, हम तो साम्राज्य के एक सैनिक हैं।"* हूणों रूपी काले मेघों से आक्रांत गुप्त साम्राज्य में युवराज स्कन्दगुप्त ही एक उज्ज्वल नक्षत्र है जो अपनी वीरता और प्रतिभा से प्रकाश फैलाता रहता है। स्कन्दगुप्त रमणियों का रक्षक, बालकों का विश्वास, वृद्धों का आश्रय और आर्य्यावर्त की छत्रछाया है। जिसकी हुंकार से दस्यु कांप उठते हैं, रोए खड़े हो जाते हैं और भुजाएँ फड़कने लग जाती है—ऐसा वीर है स्कन्द। स्कन्दगुप्त युद्ध से नहीं घबराता है परन्तु युद्ध में बहने वाले लाल खून की कल्पना से उसका हृदय करुण और भावुक बन जाता है और अकर्मण्य वीर की तरह बातें करने लग जाते हैं।¶ स्कन्दगुप्त अपराधी के हृदय परिवर्तन में विश्वास रखता है। उसके विचार में दंड देने से ही अपराधी नहीं सुधरता है वरन् क्षमा, दया, सहानुभूति, प्रेम और विश्वास से। तभी तो उसने भटार्क, अनन्तदेवी और शर्वनाग को जघन्य अपराध करने पर भी क्षमा कर दिया। इसे हम स्कन्दगुप्त की कूटनीतिज्ञता की दुर्बलता भी कह सकते हैं। स्कन्दगुप्त स्वार्थहीन देशभक्त है तभी तो उसने राजसिंहासन प्राप्त करके भी पुरगुप्त को सौंप दिया। इतना संघर्षशील जीवन

---

* स्कन्दगुप्त—पृष्ठ ६

¶ देखिए स्कन्दगुप्त—पृष्ठ ५२ और १२८.

में बदलने लग जाता है। [illegible] का यह [illegible] कितना प्रभावशाली और महत्वपूर्ण है। "[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible], [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]। [illegible] [illegible], [illegible], [illegible], [illegible]। [illegible] को [illegible]!"*

पात्र और चरित्र-चित्रण

प्रसाद ने अपने नाटकों में चरित्र-चित्रण को विशेष महत्व दिया है। डा० नगेन्द्र के अनुसार—"वस्तुतः ये नाटक व्यक्ति के द्वन्द्व को लेकर चले हैं और इनकी सबसे बड़ी सफलता चरित्र निर्माण में ही है।"† स्कन्दगुप्त के पात्रों का चरित्र निर्माण तीन प्रवृत्तियों के आधार पर किया है। वे इस प्रकार हैं—

१. देवत्व की प्रवृति वाले चरित्र—जो दार्शनिक, कवि और अपने कर्तव्य के प्रति सजग हैं; जैसे देवसेना, देवकी, कमला, मातृगुप्त आदि।
२. मनुष्यत्व की प्रवृति वाले चरित्र—जिनमें कुछ दुर्बलतायें हैं परन्तु मनुष्यत्व की ओर हमेशा झुके रहते हैं; जो कुछ कवितमय और दार्शनिक भी हैं तथा जिनमें प्रायश्चित करने की क्षमता है; जैसे स्कन्दगुप्त, विजया, शर्वनाग आदि।
३. राक्षसत्व की प्रवृति वाले चरित्र—जो षड्यंत्रों और कुचक्रों में व्यस्त रहते हैं; जो कादम्ब, कामिनी और कंचन में मस्त रहते हैं तथा जो अपनी दूषित भावनाओं से समस्त वातावरण को कलुषित बना देते हैं परन्तु अंत में पराजित होकर, देव चरित्र के संसर्ग में आकर सुधर जाते हैं जैसे भटार्क, अनन्तदेवी, पुरगुप्त आदि।

इस तरह स्कन्दगुप्त के पात्रों को तीन श्रेणियों में विभक्त करने से संपूर्ण चरित्रों का चरित्र-चित्रण हो सकता है। फिर भी स्त्री पात्रों का चरित्र-चित्रण

* स्कन्दगुप्त–पृष्ठ १२६.
† विचार और अनुभूति—पृष्ठ ४०

प्रसाद की अपनी मौलिक विशेषता है। उनके स्त्री पात्र कभी पुरुषों को देश की रक्षा के लिए अग्रसर करती हैं, कभी उनके साथ प्रेम के कुंजों में विहार करती हैं, कभी गायिका बनती हैं और कभी जादूगरनी। इस तरह नाटक के पुरुष पात्र नारियों की सुकुमार कोमल मनोवृत्तियों के सहारे जीवन के विराट रंगमंच पर नृत्य करते हैं। देवसेना, विजया और अनन्तदेवी इस तथ्य का प्रमाण हैं।

अब मैं स्कन्दगुप्त के प्रमुख पात्रों का संक्षिप्त चरित्र-चित्रण करूँगा।

स्कन्दगुप्त—स्कन्दगुप्त नाटक का नायक है। सर्व प्रथम वह हमारे सम्मुख राजसत्ता से उदासीन एक सैनिक के रूप में आता है। वह कहता है "अधिकार-सुख कितना मादक और सारहीन है।......ऊँह! जो कुछ हो, हम तो साम्राज्य के एक सैनिक हैं।"* हूणों रूपी काले मेघों से आक्रांत गुप्त साम्राज्य में युवराज स्कन्दगुप्त ही एक उज्ज्वल नक्षत्र है जो अपनी वीरता और प्रतिभा से प्रकाश फैलाता रहता है। स्कन्दगुप्त रमणियों का रक्षक, बालकों का विश्वास, वृद्धों का आश्रय और आर्यावर्त की छत्रछाया है। जिसकी हुंकार से दस्यु कांप उठते हैं, रोएं खड़े हो जाते हैं और भुजाएँ फड़कने लग जाती हैं—ऐसा वीर है स्कन्द। स्कन्दगुप्त युद्ध से नहीं घबराता है परन्तु युद्ध में बहने वाले लाल खून की कल्पना से उसका हृदय करुण और भावुक बन जाता है और अकर्मण्य वीर की तरह बातें करने लग जाते हैं।¶ स्कन्दगुप्त अपराधी के हृदय परिवर्तन में विश्वास रखता है। उसके विचार हैं दंड देने से ही अपराधी नहीं सुधरता है वरन् क्षमा, दया, सहानुभूति, प्रेम और विश्वास से। तभी तो उसने भटार्क, अनन्तदेवी और शर्वनाग को उनके अपराध करने पर भी क्षमा कर दिया। इसे हम स्कन्दगुप्त की [illegible] की दुर्बलता भी कह सकते हैं। स्कन्दगुप्त स्वार्थहीन देशभक्त है [illegible] राजसिंहासन प्राप्त करके भी पुरगुप्त को सौंप दिया। इतना [illegible]

* स्कन्दगुप्त—पृष्ठ ६

¶ देखिए स्कन्दगुप्त—पृष्ठ ४८ और [illegible]

और कर्तव्य [illegible] के [illegible] में प्रेम का [illegible] होने पर भी इसकी वह [illegible] को और [illegible] है परन्तु [illegible] और [illegible] को [illegible], [illegible] [illegible] को [illegible] का [illegible], भटार्क को [illegible] कर लेती है। [illegible] हृदय [illegible] जाता है। वह [illegible] हृदय [illegible] को [illegible] के लिए देवसेना के [illegible] में [illegible] होने के लिए देवसेना के सम्मुख [illegible] प्रयत्न करता है। कर्तव्य और प्रेम के द्वन्द्व में वह प्रेम को तिलांजलि देना चाहता है परंतु देवसेना कर्तव्य को विजयी देखना चाहती है। अंत में देवसेना के आदर्शों से प्रभावित हो स्कंद प्रेम के [illegible] को छोड़ कर्तव्य मार्ग पर बढ़ जाता है और आजीवन कुमार रहने की प्रतिज्ञा करता है। इस तरह कुमार स्कंदगुप्त आदर्श प्रेमी, देशभक्त, राजनीतिज्ञ, उदार, वीर सैनिक और गुप्त साम्राज्य का रक्षक है।

भटार्क—भटार्क नाटक का खलनायक है। वह गुप्त साम्राज्य का नवीन महाबलाधिकृत है। वह एक वीर योद्धा है परंतु अनंतदेवी के कुचक्रों में पड़ देशद्रोही बन जाता है। वह षड्यंत्रकारी है। तभी तो महादेवी देवकी का प्राणांत करने के लिए उसने षड्यंत्र रचा। भटार्क के खड्ग का भरोसा स्कंद भी करता है। इसीलिए स्कंदगुप्त ने महादेवी की हत्या के कुचक्र में सम्मिलित होने पर भी भटार्क को क्षमा कर दिया। परन्तु पाप पंक में लिप्त मनुष्य को छुट्टी कहाँ! कुभा का बांध तोड़, विदेशी हूणों की सहायता करता है और अपनी निर्लज्जता और विश्वासघात का परिचय देता है। भटार्क कूटनीतिज्ञ, वाक्‌चातुर और सम्राटों का नियामक है। भटार्क में धुंधली और मंद मानवता की लौ भी जलती है। महादेवी देवकी की मृत्यु और माँ कमला के व्यंग्यपूर्ण शब्दों ने भटार्क को परिवर्तित कर दिया और उसने हमेशा के लिए शस्त्र त्याग दिया। भटार्क प्रेमी भी है। उसने विजया के साथ प्रणय किया परंतु विजया की निर्लज्जता और फिसलन देख उसका हृदय कंपित हो उठता है। जब विजया ने आत्म हत्या करली तो भटार्क एक सच्चा प्रेमी होने के नाते स्वयं भी आत्महत्या करने के लिए उद्यत होता है परन्तु स्कन्दगुप्त उसे रोक देता है।

देवसेना—देवसेना प्रसाद के नारी संबंधी विचारों की प्रतिकृति है। नाटक के प्रारम्भ से अंत तक उसके चरित्र में देवत्व झलकता है। वह एक मधुर नायिका के साथ दार्शनिक भी है। वह विजया से कहती है "जहां हमारी सुन्दर कल्पना आदर्श का नीड़ बनकर विश्राम करती है, वही स्वर्ग है।"® देवसेना इस धरती पर ही स्वर्ग देखना चाहती है। उसकी वाणी में आकर्षण है, उसके विचारों में कर्त्तव्य की पुकार है और है स्कन्द के प्रति स्वाभिमान-पूर्ण मर्यादित प्रेम। देवसेना शांत, गम्भीर, सहनशील और दुःख में भी अपने दार्शनिक कवित्वमय गीतों में मस्त रहने वाली सुकुमारी है। उसका आदर्श है दूसरों को उठाना और उनको उठाने में स्वयं को विस्मृत कर देना। देश को विदेशी हूणों से पदाक्रांत देख अपनी भाभी जयमाला को मालव का सिंहासन स्कंद को दे देने के लिए कहती है। उसके विचार में प्रांत का अस्तित्व राष्ट्र की सुरक्षा में ही अंतर्निहित है। देवसेना राष्ट्र के उत्थान के लिए गीत गाकर, भीख मांगकर भी जीना चाहती है; यह है उसका नारी रूप। देवसेना के अनुसार पवित्रता की माप है मलिनता, सुख का आलोचक है दुःख और पुण्य की कसौटी है पाप। विजया देवसेना को अपना शत्रु समझती है और उसे नफरत की दृष्टि से देखती है परंतु देवसेना उसे प्यार की दृष्टि से देखती है। वह स्कंद से प्रेम करती है परंतु यह नहीं चाहती कि लोग कहें कि "मालव देकर ब्याह किया गया है।" स्कंदगुप्त देवसेना के सम्मुख प्रणय का प्रस्ताव रखता है परंतु देवसेना चाहते हुए भी इंकार कर देती है क्योंकि देश का प्रेम व्यक्तिगत प्रेम से बड़ा है। वह स्कंद को 'मेरे इस जीवन के देवता ! और उस जीवन के प्राप्य !' मानती है। वास्तव में देखा जाय तो देवसेना प्रसाद की ट्रेजेडी की सार प्रतिमा है जिसका व्यक्तित्व सजीव कोमल करुण काव्य चित्र के सदृश्य है।

विजया—विजया मालव के धनकुबेर की कन्या है उसे अपने रूप, धन और यौवन पर गर्व है। सर्व प्रथम वह स्कंदगुप्त की तरफ झुकती है

परंतु स्कंदगुप्त की राज्यसत्ता में उदासीन देख भटार्क की ओर झुकती है और उसे वरण करती है। प्रतिहिंसा की भावना से देवसेना को गर्त में डालने के लिए षड्यंत्रकारियों का साथ देती है, देशद्रोहिनी बनती है। उसका मन अस्थिर है। नारी की स्वाभाविक प्रवृत्ति के अनुसार जिधर रूप, यौवन और धन देखा उधर ही झुक जाती है; युद्ध और शस्त्र से डरती है और यहाँ तक प्रेम का माप भी धन से करती है। उसकी प्रतिहिंसा ज्वालामुखी के विस्फोट से वीभत्स और प्रलय की अनल-शिखा से भी लहरदार है परंतु जब उसके स्वार्थ पर चोट लगती तो वह परमार्थ की ओर दौड़ने लगती है। मातृगुप्त को वह भारतीय नारी का प्रतिनिधित्व करती हुई कहती है "सुनादो वह संगीत—जिससे पहाड़ हिल जाय और समुद्र कांप कर रह जाय...... ..!" * परंतु जब स्कंदगुप्त सम्मुख आता है तो वह फिर उसकी ओर झुक जाती है और उसके साथ प्रणय बंधन में बंधने की इच्छा प्रकट करती है। वह चाहती है परमार्थ के साथ स्वार्थ की सिद्धि भी हो जाय परंतु स्कंदगुप्त के सम्मुख उसे फिर हार खानी पड़ती है। जब भटार्क विजया की निर्लज्जता, धन लोलुपता और स्वार्थता देख लेता है तो विजया अपने किये हुए अपराधों और आत्मग्लानी की आग को शांत करने के लिए, आत्महत्या कर प्रायश्चित करती है। इस तरह विजया धन लोलुपता नारी देशद्रोहिनी, डरपोक, प्रतिशोधनी, नारी प्रवृत्ति की प्रतीक और अंत में देश सेविका है।

देश और काल—

स्कन्दगुप्त में प्रसाद ने तत्कालीन समाज के दो चित्र खींचे हैं-१. राजनैतिक २. धार्मिक। विस्तृत गुप्त साम्राज्य आंतरिक षड्यंत्रों के कारण विशृंखल, सम्राट् कुमारगुप्त की विलास प्रियता के कारण राजकीय सत्ता के लिए छीना झपटी, देश के कुछ राजकीय अधिकारियों द्वारा विदेशी हूणों की मदद, अंत में युवकेन्द्र स्कन्दगुप्त द्वारा उसका पुनः संस्थापन आदि राजनैतिक दांव पेच के चित्र हमें प्रथम गुप्तकाल में लेजाकर खड़ा कर देते हैं। धार्मिक

* स्कंदगुप्त—पृ० १०३

सैनिक अपनी आर्यभूमि के लिए मर मिटने को तैयार हैं। ये आर्यावर्त को विदेशियों से पदाक्रांत नहीं देखना चाहते हैं।

इसी प्रकार धार्मिक क्षेत्र में बौद्ध और ब्राह्मण धर्म के अनुयायियों का अंधानुसरण ६ बलि आदि के प्रश्नों पर घोर मतभेद, संघर्ष और उत्तेजना का सजीव वर्णन कर प्रसाद ने गुप्तकालीन भारतीय संस्कृति का चित्र खींच डाला है। देखिए ब्राह्मण देवता कितने उग्र होकर कहते हैं "तुम कौन हो? मूर्ख उपदेशक! हट जाओ! तुम नास्तिक प्रच्छन्न बौद्ध! तुमको अधिकार क्या है कि हमारे धर्म की व्याख्या करो?"*

स्कन्दगुप्त के पात्रों के नाम, वेशभूषा, उपाधि और संवाद सभी देश-काल के अनुकूल हैं। अन्तर्वेद, महाबलाधिकृत, कुमारामात्य, महा नायक, महा प्रतिहार आदि शब्द देशकाल के हैं। परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि स्कन्दगुप्त में आधुनिक युग का प्रभाव बिल्कुल नहीं है। आज की समस्यायें (प्रसाद युग की) स्कन्दगुप्त में स्पष्ट प्रतिबिम्बित होती हैं। स्कन्दगुप्त में राष्ट्रियता और देशभक्ति का भव्य रूप निखर उठा है।

अन्य विशेषताएँ—

प्रसाद के स्कन्दगुप्त में उपयुक्त आलोचना द्वारा जिन विशेषताओं का परिचय प्राप्त होता है उसके अलावा भी कुछ विशेषताएँ शेष रह जाती है; जो निम्न है—

(१) स्कन्दगुप्त में प्रसाद की सुख दुःख की भावना का पूर्ण रूप से विकास हुआ है। नाटक को पढ़ने के पश्चात् पाठक के हृदय में एक शंका सी बनी रहती है कि क्या यह नाटक सुखान्त है या दुखान्त? नाटक के अंतिम दृश्य में देवसेना का यह कहना "मेरे इस जीवन के देवता! और उस जीवन के प्राप्य! क्षमा!" पाठक के हृदय में न दुःख का भाव उत्पन्न करता है और न सुख का। डा० नगेन्द्र ने ठीक ही कहा है—"यह नाटक सुखान्त अथवा

* स्कंदगुप्त—पृ० १२३

दुखान्त न होकर प्रसादान्त है।*इस नाटक के प्रसादान्त को हम बहुत अंत भी कह सकते हैं। नाटक का इस तरह का सुन्दर अंत हमें अन्य नाटकों में दृष्टिगोचर नहीं होता है। उनके नाटक का प्रसादान्त होने का कारण प्रसाद का शैव और बौद्ध दर्शन का गहरा ज्ञान ही है।

(२) प्रसाद नियतिवादी थे, अतः उनके नियतिवाद की झलक भी में स्पष्ट प्रतिबिम्बित होती है। स्कन्दगुप्त के सभी पात्र परिस्थिति अनुसार अपने चरित्र का निर्माण करते हैं। उनका नियति में अटूट वि है। स्कन्दगुप्त नियति के सहारे ही जीवन संग्राम में आगे बढ़ता है और विश्व-नियन्ता के संकेत पर अत्याचारियों के प्रति प्रेरित होता है।

(३) स्कन्दगुप्त में प्राचीन और नवीन, अतीत और आधुनि और वर्तमान का समन्वय मिलता है। यद्यपि नाटक का विषय ऐतिहासिक है तथापि उसमें आधुनिकता की झलक है। जैसे अपने दे धार्मिक व मजहबी झगड़ों का आभास, विदेशी आक्रमणकारियों के अंग्रेजों की तरफ संकेत और गांधीजी द्वारा प्रेरित राष्ट्रीय भा स्वरूप अच्छी तरह से व्यक्त हुआ है।

(४) जैसाकि मैंने पहले कहा था कि प्रसाद मूल रूप में कवि थे अतः उन कवि रूप का प्रतिबिंब स्कन्दगुप्त के सभी पात्रों में स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। उनके पात्र भावना और कल्पना का सहारा लेकर अपने कथोपकथन की सृजना करते हैं। मातृगुप्त, धातुसेन, देवसेना, कमला, स्कन्दगुप्त आदि पात्र और नाटक के गीतों में कवि प्रसाद के व्यक्तित्व की छाया मिल जाती है।

दोष—जहां स्कन्दगुप्त में इतनी विशेषताएँ हैं वहाँ कुछ दोष भी हैं। स्कन्दगुप्त रंगमंच पर अभिनय योग्य नहीं है। नाटक के लम्बे लम्बे स्वगत भाषण, युद्ध के दृश्य, घटनाओं का घटाटोप, दर्शन और कवित्वपूर्ण क्लिष्ट भाषा आदि रंगमंच के अनुकूल नहीं है। अगर अधिक परिश्रम करके काट-छांट कर खेला भी जाय तो भी अल्पशिक्षित

* विचार और

जायेंगे। यह दोष सबसे प्रमुख दोष है। दूसरा दोष है स्कन्दगुप्त में एकता का अभाव। स्कन्दगुप्त में घटनाओं का इतना बाहुल्य है कि घटनाएँ सरिता के प्रवाह की तरह आगे नहीं बढ़ती। इसी कारण कहीं कहीं नाटककार को घटनाओं की गतिविधि को संभालना मुश्किल हो गया है। तीसरा दोष स्कन्दगुप्त में व्यर्थ के दृश्यों का समावेश है। नाटक के चतुर्थ अंक का चौथा और पांचवा दृश्य तथा पंचम अंक का तीसरा दृश्य का कथावस्तु से कोई संबन्ध नहीं है अतः इन दृश्यों के बिना भी कार्य चल सकता है। स्कन्दगुप्त में बहुत से ऐसे पात्रों की रचना प्रसाद ने कर डाली है, जिनका कथावस्तु से कोई प्रयोजन नहीं है। अगर कुछ आंशिक प्रयोजन है तो भी उनके बिना कार्य चल सकता है। ये पात्र हैं धातुसेन, पृथ्वीसेन, मातृगुप्त, मालिनी आदि। कहीं कहीं दृश्य बहुत ही छोटे हैं और कहीं कहीं बहुत ही लम्बे, जो रंगमंच संबंधी कठिनाई उपस्थित करते हैं। स्कन्दगुप्त की कुछ घटनाएँ इतिहास से भी मेल नहीं खाती है जैसे स्कन्दगुप्त द्वारा मगध का सिंहासन भाई पुरगुप्त को दे देना, मातृगुप्त जैसे कवि पर कालिदास की लिपापोती आदि।

इतने दोष होने पर भी इस नाटक का महत्त्व अमम है। प्रसाद की सुख-दुख की भावना, राष्ट्रीयता, मधुर कोमल चरित्र, काव्य का भव्य स्पर्श आदि के कारण स्कन्दगुप्त निश्चय ही हिंदी नाट्य जगत का अद्वितीय नाटक है।

दुखान्त न होकर प्रसादांत है।"* नाटक के प्रसादांत को हम करुण सुखांत अंत भी कह सकते हैं। नाटक का इस तरह का सुन्दर अंत हमें अन्य भारतीय नाटकों में दृष्टिगोचर नहीं होता है। उनके नाटक का प्रसादांत होने का मूल कारण प्रसाद का शैव और बौद्ध दर्शन का गहरा ज्ञान ही है।

(२) प्रसाद नियतिवादी थे, अतः उनके नियतिवाद की झलक स्कन्दगुप्त में स्पष्ट प्रतिबिम्बित होती है। स्कन्दगुप्त के सभी पात्र परिस्थितियों के अनुसार अपने चरित्र का निर्माण करते हैं। उनका नियति में अटूट विश्वास है। स्कन्दगुप्त नियति के सहारे ही जीवन संग्राम में आगे बढ़ता है और उस विश्व-नियन्ता के संकेत पर अत्याचारियों के प्रति प्रेरित होता है।

(३) स्कन्दगुप्त मे प्राचीन और नवीन, अतीत और आधुनिक, भूत और वर्तमान का समन्वय मिलता है। यद्यपि नाटक का विषय प्राचीन ऐतिहासिक है तथापि उसमें आधुनिकता की झलक है। जैसे अपने समय के धार्मिक व मजहबी झगड़ों का आभास, विदेशी आक्रमणकारियों के रूप में अंग्रेजों की तरफ संकेत और गांधीजी द्वारा प्रेरित राष्ट्रीय भावना का स्वरूप अच्छी तरह से व्यक्त हुआ है।

(४) जैसाकि मैंने पहले कहा था कि प्रसाद मूल रूप में कवि थे अतः उनके कवि रूप का प्रतिबिंब स्कन्दगुप्त के सभी पात्रों मे स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। उनके पात्र भावना और कल्पना का सहारा लेकर अपने कथोपकथन की सृजना करते हैं। मातृगुप्त, धातुसेन, देवसेना, कमला, स्कन्दगुप्त आदि पात्र और नाटक के गीतों में कवि प्रसाद के व्यक्तित्व की छाया मिल जाती है।

दोष—जहां स्कन्दगुप्त में इतनी विशेषताएं हैं वहां कुछ दोष भी हैं। स्कन्दगुप्त रंगमंच पर अभिनय योग्य नहीं है। नाटक के लम्बे लम्बे स्वगत भाषण, युद्ध के दृश्य, घटनाओं का घटाटोप, दर्शन और कवित्वपूर्ण क्लिष्ट भाषा आदि रंगमंच के अनुकूल नहीं हैं। अगर अधिक परिश्रम करके और कुछ काट-छांट कर लेना भी चाहें तो भी अल्पशिक्षित जनसाधारण नहीं समझ

* विचार और अनुभूति—पृ० ३५

हिन्दी साहित्य के इस अविचारपूर्ण युग में 'कामायनी' का प्रकाशन एक क्रान्तिकारी घटना है। हिन्दी में 'प्रसाद' के आगमन ने जो नूतन सन्देश दिया:—

"किन्तु पहुंचना उस सीमा पर,
जिसके आगे राह नहीं।"

कामायनी उसी की पूर्णाहुति है। सदियों के बाद आत्मा ने साहित्य में अपना विराट स्वरूप देखा। उसके बाद कवि के कहने के लिये कुछ ही नहीं रह गया।

काव्य के प्रारम्भ में ही कवि नायक को हमारे सम्मुख ले आता है पर उसका नाम नहीं बतलाता:—

"एक पुरुष भीगे नयनों से
देख रहा था प्रलय प्रवाह।"

जिससे उत्कण्ठा बराबर बढ़ती ही रहती है। मनु जो कि इस काव्य के नायक हैं एकबार बीती बातें सोचने में लीन हो जाते हैं—सुर बालाओं का शृंगार एक कहानी ही रह गयी है:—

'गया, सभी कुछ गया, मधुरतम—
सुर—बालाओं का शृंगार
उषा-ज्योत्स्ना सा यौवन-स्मित,
मधुप-सदृश निश्चिन्त विहार।'

महाप्रलय के पश्चात् मनु पुनः जीवन-संग्राम में अवतीर्ण होते हैं। घोर निराशा है, अभाव है पर फिर भी उन में आशा का उदय होता मालूम होता है, हंसती हुई प्रकृति सामने खड़ी है जिसका वर्णन सुन्दर में इस प्रकार हुआ है —

"उषा सुनहले तीर बरसती
जय लक्ष्मी सी उदित हुई

जायेंगे। यह दोष सबसे प्रमुख दोष है। दूसरा दोष है स्कन्दगुप्त में एकता का अभाव। स्कन्दगुप्त में घटनाओं का इतना बाहुल्य है कि घटनाएँ सरिता के प्रवाह की तरह आगे नहीं बढ़ती। इसी कारण कहीं कहीं नाटककार को घटनाओं की गतिविधि को संभालना मुश्किल हो गया है। तीसरा दोष स्कन्दगुप्त में व्यर्थ के दृश्यों का समावेश है। नाटक के चतुर्थ अंक का चौथा और पांचवा दृश्य तथा पंचम अंक का तीसरा दृश्य का वस्तु से कोई सबन्ध नहीं है अतः इन दृश्यों के बिना भी कार्य चल सकता है। स्कन्दगुप्त में बहुत से ऐसे पात्रों की रचना प्रसाद ने कर डाली है, जिनका कथावस्तु से कोई प्रयोजन नहीं है। अगर कुछ आंशिक प्रयोजन है तो भी उनके बिना कार्य चल सकता है। ये पात्र हैं धातुसेन, पृथ्वीसेन, मातृगुप्त, मालिनी आदि। कहीं कहीं दृश्य बहुत ही छोटे हैं और कहीं कहीं बहुत ही लम्बे; जो रंगमंच संबंधी कठिनाई उपस्थित करते हैं। स्कन्दगुप्त की कुछ घटनाएँ इतिहास से भी मेल नहीं खाती है जैसे स्कन्दगुप्त द्वारा मगध का सिंहासन भाई पुरगुप्त को दे देना, मातृगुप्त जैसे कवि पर कालिदास की लिपापोती आदि।

इतने दोष होने पर भी इस नाटक का महत्व असम है। प्रसाद की सुख-दुख की भावना, राष्ट्रीयता, मधुर कोमल चरित्र, काव्य का भव्य स्पर्श आदि के कारण स्कन्दगुप्त निश्चय ही हिंदी नाट्य जगत का अद्वितीय नाटक है।

जयशंकर प्रसाद की दो कहानियाँ

★

'पुरस्कार' और 'विसाती'

★

प्रो० गणपतिचंद्र भंडारी एम. ए.

★

निबंधों के क्षेत्र में जिस प्रकार आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने हमारी चित्त-वृत्तियों की सूक्ष्म छानबीन करके हिन्दीको मनोवैज्ञानिक विषयों पर गये निबंधों की अनुपम सम्पत्ति प्रदान की है और हिन्दी पाठकों के सम्राट प्रेमचद ने जिस प्रकार अपनी कहानियों में पारिवारिक एवम् सामाजिक जीवन का संचालन करने वाली अनेक मनोवृत्तियों के क्रियाकलाप का मर्मस्पर्शी चित्रण किया है, उसी प्रकार हिन्दी में अनेक नवीन प्रवृत्तियों का सूत्रपात करने वाले अमर कलाकार प्रसाद ने भी अपनी कहानियों में

. . .

का अंत निराला, उनकी कामायनी का संदेश निराला, शैली निराली और उनकी कहानियों का वातावरण एवम् अंतर्द्वन्द्व निराला, अंत निराला।

इस संसार को हृदय की आँखों से देखने वाले इस कलाकार की कहानियाँ प्रायः भाव प्रधान और मनोविश्लेषण-पूर्ण होती हैं। उनमें प्रायः प्रेम के विभिन्न रूपों का चित्रण मिलता है परन्तु प्रेमचंद की भाँति परिजनों, मित्रजनों, सगे संबंधियों इत्यादि को छू कर बहने वाली प्रेम-धारा से उनका रूप भिन्न है—वह तो भ[illegible] हृदयों [illegible] दुनिया [illegible] है जहाँ प्रेमी और प्रेमि[illegible] स्थान [illegible] है
और उनके प्रेम [illegible] के
विचित्रता रहती [illegible] पर
"आकाश दीप

"फिर क्या हुआ ?" परंतु इस "फिर क्या हुआ ?" का उत्तर देने वाली कहानियाँ लिखना प्रसाद का लक्ष्य कभी नहीं रहा। वे तो यही बताने को लेखनी उठाते हैं कि "कुछ हुआ" और "जो कुछ हुआ वह कैसे हुआ" अर्थात् उसके पीछे कौन से मनोवैज्ञानिक तथ्य काम कर रहे थे।

१. पुरस्कार—प्रसाद की कहानियाँ पात्रों के मनोविश्लेषण और उनके अंतर्द्वन्द्व के चित्रण के लिये प्रसिद्ध हैं। अंतर्द्वन्द्व किसी सत्प्रवृत्ति और किसी कुप्रवृत्ति के बीच भी हो सकता है और दो सत्प्रवृत्तियों अथवा दो कुप्रवृत्तियों के बीच भी। पुरस्कार में दो सत्प्रवृत्तियों के बीच का अंतर्द्वन्द्व चित्रित हुआ है-एक ओर मधूलिका के हृदय में अरुण के प्रति उत्कट प्रेम है और दूसरी ओर अपने देश कौशल के प्रति भी। इस व्यक्तिगत प्रेम और देश प्रेम के बीच संघर्ष उपस्थित करने के लिये चतुर कलाकार ने मधूलिका (कहानी की नायिका) को ऐसी विकट परिस्थिति में डाला है कि यदि वह अपने प्रणयी अरुण की रक्षा करती है तो देश के साथ विश्वासघात होता है और यदि अपने देश के प्रति वफादार बनी रहती है तो अरुण के साथ विश्वासघात होता है। इस उलझन में से अपने पात्र को जिस चतुराई से प्रसाद ने निकाला है उसी में इस कहानी के सफलता की कुञ्जी है।

कहानी-लेखक के मार्ग में दो ही ऐसे गर्त आते हैं जिनमें गिर कर अधिकांश कहानीकार पाठकों के हृदय को छूने में विफल होते हैं। वे गर्त हैं—

(१) उद्दिष्ट अंतर्द्वन्द्व अथवा बाह्य द्वन्द्व को घटित करने के लिये समुचित परिस्थिति का निर्माण न कर पाना।

(२) उस संघर्ष या उलझन में से अपने पात्र को इस सफाई से न निकाल पाना कि पाठक जिसकी कल्पना ही न कर सके।

इन दो गड्ढों से जो कहानीकार अपनी कहानी को बचा कर निकाल ले जाता है, उसकी कहानी (यदि वह अन्य गुणों में सर्वथा ही शून्य न हो तो) अवश्य मर्मस्पर्शी बन जाती है।

यदि हम पुरस्कार कहानी में चित्रित अन्तर्द्वन्द्व को इस कसौटी पर कसकर देखें तो हमें ज्ञात होगा कि प्रसाद जी की यह कहानी उपर्युक्त दोनों दोषों से न केवल मुक्त ही नहीं है, अपितु इन दोनों आवश्यकताओं की इस सुन्दरता से पूर्ति करती है कि कहानी का कलेवर चमक उठा है और कहानी समाप्त होने पर हृदय पर अपनी कलात्मकता की एक अमिट छाप छोड़ जाती है।

देखना चाहिये, प्रसाद ने यह किस प्रकार किया है। मधूलिका, मगध को पराजित करके कोशल की लाज रख लेने वाले साहसी योद्धा सिंह मित्र की इकलौती पुत्री है जिसे अपने पितृमहों की भूमि से इतना प्यार है कि उस भूमि के मूल्य का चौगुना पुरस्कार लेकर भी वह भूमि पर से अपना स्वत्व त्याग ने को तैयार नहीं। साथ ही उस में इतना देश-प्रेम और अनुशासन भी है कि वह कोशल के राष्ट्रीय त्योहार में कोई बाधा डालना नहीं चाहती और नियमानुसार राजा को अपना खेत जोतने देती है। परन्तु भला उस स्वाभिमानिनी को इस खेत का अधिकार मान त्याग ने के बदले राजा का अनुग्रह पूर्वक दिया गया चौगुना पुरस्कार भी स्वीकार करने के लिये कौन बाध्य कर सकता है? वह तो उसकी रुचि का प्रश्न है—अपने खेत का मूल्य ले, न ले! सिंहमित्र की कन्या होने से महाराज भी अपनी नैतिक पराजय के इस कड़वे घूंट को चुपचाप पी जाते हैं पर मन में यह चिंता लिये हुए ही अपने प्रासाद को लौटते हैं कि कभी हो सका तो इस लड़की को अवश्य प्रसन्न करूंगा।

अपनी भूमि के छिन जाने से विपन्न और खिन्नमना मधूलिका से उसके सौंदर्य पर मुग्ध मगध का राजकुमार अरुण प्रणय-भिक्षा मांगता है और बदले में पाता है तीव्र तिरस्कार! राजकुमार को चोट खाकर लौटना पड़ता है। परन्तु यह निष्ठुर प्रहार करके मधूलिका स्वयं भी आहत हुए बिना नहीं रहती—"उसके हृदय में भी टीस-सी होने लगी।" यही तो नारी हृदय का रहस्य है—यही तो है उसकी दुर्बलता! प्रेम तो प्रेम ही उत्पन्न कर सकता है, घृणा नहीं; परन्तु सामाजिक संस्कार और अपना स्वाभिमान भी तो कोई वस्तु है? इसी से मधूलिका अरुण के प्रस्ताव को ठुकरा देती है—उसे एक

राजकुमार द्वारा किया गया दीन कृषक बालिका का उपहास समझती है। परन्तु यह तिरस्कार की ठोकर उसका स्वाभिमान मारता है, उसका हृदय नहीं! उसके सामाजिक संस्कार और उसकी उद्विग्नता मारती है, जन्म जात नारी-स्वभाव नहीं! वह तो उसके हृदय में टीस ही उत्पन्न करता है। यही तो है लेखक के मानव-हृदय के अध्ययन की सूक्ष्मता!

यह है कहानी की प्रथम महत्वपूर्ण घटना जिसमें लेखक ने मधूलिका के देश प्रेम, स्वाभिमान और साथ ही नारी-सुलभ दुर्बलता का भी बड़े मनोवैज्ञानिक ढंग से परिचय दिया है। एक राजकुमार का प्रणय प्रस्ताव, कृषक बालिका के सामने! और वह ठुकरा दे? यह कैसे? उत्तर है उसका यह स्वाभिमान जिसने स्वर्णमुद्राओं से भरा थाल भी कोशल नरेश पर वार कर फेंक दिया था! और फिर उसकी मनोवस्था भी तो देखनी चाहिये। (जिसकी इतनी प्यारी भूमि छिन गई है, उसकी उद्विग्नता में उसके सामने ऐसा प्रस्ताव करना ही बेवकूफी है) फिर भी मधूलिका "नारी" है—यह प्रसादजी नहीं भूलते। इसलिये उसे अपने हृदय की टीस को सम्हाल कर सजल नेत्रों से अरुण के अश्व के पदाघात से उड़ने वाली धूल निहारनी ही पड़ती है। इस प्रकार इस घटना के लिये लेखक ने पर्याप्त मनोवैज्ञानिक कारण जुटाये हैं और उसे अस्वाभाविक होने से बचाया है।

कहानी की दूसरी महत्वपूर्ण घटना है अरुण और मधूलिका का पुनर्मिलन। इस मिलन का लेखक जो परिणाम निकालना चाहता है, उसके लिये उसने वैसा मनोवैज्ञानिक वातावरण तैयार किया है, वह भी देखिये—असहाय और अनाथ मधूलिका की टूटी फूटी झोंपड़ी! (वर्षों के बाद) शीतकाल की रजनी और ऊपर से बरसात! मधूलिका का छाजन टपकने लगा। संकट काल में कौन अपने अभावों को बढ़ा कर नहीं सोचता? सद्गुणों से प्रेरित होकर मनुष्य जो कठोर त्याग किया करता है, वह भी प्रायः कीर्ति का अवलम्ब लेकर ही खड़ा रहा करता है। जहां लोगों ने उसकी चर्चा करनी छोड़ी, वहां मन में प्रायः निर्बलता आजाती है। मधूलिका ने भी बरसों

वस्था में गुजारे थे; अतः उसका स्वाभिमान भी यदि कुछ शिथिल पड़ गया ही तो इसमें क्या आश्चर्य है। फिर अरुण के प्रथम मिलन ने हृदय पर एक लका सा आघात भी तो किया था। आज अपने को शीत से ठिठुरते पाकर ह मगध के महलों की कल्पना करने लगी जो स्वयं एक दिन उसके पास मने आये थे .....पर उसने ही उन्हें ठुकरा दिया..... क्यों ठुकरा दिया, व्यर्थ ही..... ? उसका इस प्रकार सोचना नितान्त स्वाभाविक है! और ऐसी मनोवस्था में कहीं वही अरुण फिर आ जाय ? तो क्या अब भी ह उसका तिरस्कार कर देगी ? कदापि नहीं। मनुष्य के निर्णयों पर उसकी नोवस्थाओं का कितना गहरा प्रभाव रहता है, यह किसी भी मननशील यक्ति से छिपा नहीं है। जब महाराणा प्रताप भी विपत्ति में पड़ कर विच-लित हो सकते हैं-अपना निर्णय बदल सकते हैं-तो बेचारी मधूलिका तो एक ाधारण कृषक बालिका थी। उसके हृदय में भी आज वैभव विलास की प्यास ग उठी और वह राजकुमार का स्वागत करने को तैयार हो गई। संयोगवश सी समय एक बार और अरुण ने उसका द्वार खटखटाया परन्तु इस बार वह ाजकुमार अरुण न था-मगध से निर्वासित विद्रोही अरुण था। फिर भी उसे ाश्रय मिला क्योंकि प्रकृति के उस प्रकोप में किसी भी आश्रयहीन को आश्रय ने के लिये कोई भी मनुष्य तैयार हो जाता, फिर मधूलिका के हृदय में तो वह पना एक स्थान भी बना चुका था। अरुण के विपन्न अवस्था में आने से धूलिका के स्वाभिमान को भी ठेस पहुँचने का प्रश्न न था। इस प्रकार हानी की इस दूसरी घटना के लिये भी पर्याप्त मनोवैज्ञानिक पृष्ठ भूमि यार की गई।

मधूलिका की नारी सुलभ दुर्बलता से लेखक हमें पहले ही परिचित करा चुका है। धीरे धीरे उस पर अरुण के प्रेम का नशा छाने लगा और सके कहने से उसने कोशल नरेश से श्रावस्ती दुर्ग के निकट की सैनिक महत्व की भूमि अपने खेत के लिये माँग ली। अरुण अपने बाहु बल से नये राज्य की स्थापना के स्वप्न देख रहा था और यही अवसर था उस स्वप्न को सत्य

छा न रहते हुए भी मन्त्रमुग्ध सी मधूलिका उसके षड्यन्त्र में सहायक होने उद्यत हो गई। मधूलिका को एक चांदनी रात में अपने प्रेम में विह्वल कर आत्म-विस्मृत हुआ जान उस धूर्त अरुण ने प्रस्ताव किया—"तुम्हारी च्छा हो तो प्राणों से प्राण लगाकर मैं तुम्हें इसी कोशल के सिंहासन पर बैठा । मधूलिके! अरुण के खड्ग का आतंक देखोगी?—मधूलिका एक बार िंप उठी। वह कहना चाहती थी—नहीं; किन्तु उसके मुख से निकला—या?" और अंत में अरुण ने उसके मुख से यह कहलवा ही लिया कि जो होंगे, वही करूंगी।

यही इस कहानी का मुख्य मोड़ है। यहीं हम मधूलिका की नारी लभ दुर्बलता को उसकी अन्य सत्प्रवृत्तियों पर विजयी होते देखते हैं। परन्तु ह नहीं कहा जा सकता कि ऐसी परिस्थिति लाने के लिये प्रसाद ने समुचित नोवैज्ञानिक भूमि तैयार करने में कोई कसर रखी है। एक नारी हृदय के णय की उसके देश-प्रेम पर क्षणिक विजय, जब कि प्रेमोद्दीपक शरच्चन्द्रिका एकांत निर्जन स्थल पर उसका हृदय अपने प्रणयी की मादक प्रेम-सुधा-ष्टि से आप्लावित हो रहा हो—नितान्त स्वाभाविक घटना है। इसे और ी बल प्रदान करने के लिये प्रसाद जी ने उस विपत्ति-ग्रस्त निर्धन कृषक ालिका के सामने कोशल की राज रानी बनने की सम्भावना का ऐसा लोभन भी रख दिया है जिस पर दृढ़ से दृढ़ पैरों का रपट जाना भी कोई असम्भव बात नहीं! इसे ही कहते हैं सबल परिस्थिति का निर्माण।

महाराज तो पहले ही से मधूलिका को कुछ देकर संतुष्ट करना चाहते थे। इसलिये उसके द्वारा मांगी गई भूमि भी उन्होंने बिना अधिक आपत्ति उठाये, उसे देदी। कहानी के आरम्भ में दिखाया गया राजा के अनुग्रह का तिरस्कार जहां एक ओर मधूलिका के स्वाभिमान की व्यंजना करता है वहां दूसरी ओर इसी भावी घटना की उचित मनोभूमि भी तैयार करता है। यदि अपने उपकारी सिंहमित्र की इकलौती अनाथ बालिका मधूलिका के असंतोष से राजा व्यथित न होता तो शायद वह उसे सैनिक महत्व की वह भूमि देने

को कभी तैयार न होता। इस प्रकार हम देखते हैं कि कथानक की सभी कड़ियां कार्य-कारण भाव से सुचारु रूप से दृढ़तापूर्वक जुड़ी हुई हैं।

भूमि मिल गई और अरुण ने उसे समतल बनाने के बहाने दुर्ग पर आक्रमण करने का पथ निर्माण करना आरम्भ कर दिया। अब मधूलिका को भी कुछ सोचने का अवसर मिला। फिर अपनी आंखों के सामने ही उसने अपने प्रिय कोशल के विनाश का पथ निर्मित होते देखा था और वह भी उसके स्वयं के सहयोग से! उसका हृदय कांप उठा! उस रात जब वह अरुण से विदा लेकर झोंपड़ी की ओर लौटने लगी तो उसका पराजित देश-प्रेम चार प्रहर के पश्चात् ही उसकी प्यारी श्रावस्ती के पतन की भयानक कल्पना से उद्दीप्त हो उठा! उधर उसे अपनी कृतघ्नता पर तीव्र आत्मग्लानि होने लगी। उसे ऐसा लगा, मानो उसके पिता की आत्मा उसके देशद्रोह पर उसकी कठोर भर्त्सना कर रही हो! वह सोचने लगी—"श्रावस्ती का दुर्ग एक विदेशी के अधिकार में क्यों चला जाय? मगध कोशल का चिर शत्रु! ओह! विजय! कोशल नरेश ने क्या कहा था—'सिंहमित्र की कन्या' सिंहमित्र कोशल का रक्षक वीर, उसी की कन्या आज क्या करने जा रही है! नहीं, नहीं, 'मधूलिका! मधूलिका!!' जैसे उसके पिता उस अंधकार में पुकार रहे थे।'

और मधूलिका अपने पिता की—अपने पराजित देश-प्रेम की—अपने कुचले हुए स्वाभिमान की एवम् भीषण कृतघ्नता पर धिक्कारते हुए अपने हृदय की इस पुकार की उपेक्षा न कर सकी! वह खड़ी हो गई उस मार्ग में जिधर होकर कोशल के सेनापति दस्यु-दमन कर एक सौ अश्वारोहियों के साथ लौट रहे थे। उसने उनसे प्रार्थना की कि उसे शीघ्र राजा के पास ले जाएं अन्यथा कोशल की रक्षा न हो सकेगी। वह राजा के समक्ष प्रस्तुत की गई और वहां आत्मग्लानि से अभिभूत मधूलिका ने अरुण के षड्यंत्र का सारा भंडा फोड़ दिया। अरुण बंदी कर लिया गया।

यह है कहानी का दूसरा महत्त्व... जहां हम मधूलिका के देश-प्रेम की ओर उसके संस्कारजन्य ... बार पुनः प्रगाढ़ के पा

आवेग पर विजयी होते देखते हैं। मधूलिका को अपने कृत्य पर विचार करने का अवकाश देना ही अरुण की राजनैतिक भूल थी। इसी अवकाश ने उसके हृदय की आत्म-ग्लानि को जगाया और आत्म-ग्लानि के उस भीषण झंझावात में कोमल नारी-हृदय के निश्चयों का तृणवत् उड़ जाना कौन बड़ी बात है? यहां प्रसादजी ने अरुण के पराजय की आशंका से मधूलिका के हृदय में जगने वाली तीव्र आत्मग्लानि का बड़ा हृदय-ग्राही चित्रण किया है। अंतर्द्वन्द्व के चित्रण का यह एक सुन्दर उदाहरण है।

मधूलिका के माध्यम द्वारा मानव-हृदय की जिन प्रवृत्तियों की जय-पराजय का चित्रण प्रसादजी को अभीष्ट था, वह एक प्रकार से यहीं पूर्ण हो चुका था, परन्तु यदि कहानी यहीं समाप्त कर दी जाती तो मधूलिका के चरित्र पर एक काला धब्बा छूट जाता कि उसने अपने प्रेमी के साथ विश्वासघात किया जो किसी प्रकार वाञ्छित नहीं कहा जा सकता। ऐसा करने से उसके देश प्रेम की उज्ज्वलता भी कुछ धुंधली हो जाती क्योंकि प्रणय में विश्वास-घात से बढ़ कर नीचता और हो ही क्या सकती है? प्रसाद ने अपनी नायिका को इस कलंक से बड़ी चतुराई से बचाया है और इस मोड़ से यह कहानी चमक उठी है—अंत अत्यंत प्रभावशाली बन गया है।

अरुण के बंदी होने पर उसका न्याय विचार होता है और उसे मृत्यु दण्ड की घोषणा होती है। उधर मधूलिका को एक बार और अपने पिता की ही भांति कोशल राष्ट्र को शत्रुओं से बचा लेने का श्रेय मिलता है जिसके लिये कोशल नरेश उसे पुरस्कृत करना चाहते हैं। बंदी अरुण भी सामने ही खड़ा है। कोशल नरेश अपनी सारी खेती उसे दे देने का प्रस्ताव करते हैं। मधूलिका एक बार अरुण की ओर देखती है पर वह कुछ नहीं बोलता। वह हँस देता है मानो मधूलिका के विश्वासघात की खिल्ली उड़ा रहा हो। तब मधूलिका भी उसके पास जा खड़ी होती है और कहती है—"तो मुझे भी प्राण दण्ड मिले।"

यहां "तो" शब्द अत्यन्त व्यंजनापूर्ण है—'यदि अरुण जीना नहीं

चाहता, [illegible] नहीं सकता, तो मैं भी जीकर क्या करूँगी! कहीं का यह पुरस्कार मांगना मानो अरुण से प्यार जीकर यह [illegible] अरुण तुम मुझे [illegible] प्यार करो—बहुत [illegible] परन्तु अपने देश के लिए नहीं! [illegible] के नाम पर मैं अपना अरुण के लिये अपने प्राण दे जिन पर उसका अधिकार है, परन्तु अपना देश भी कोशल के लिए के राजकुमार को नहीं सौंप सकती! मधूलिका का यह निर्णय हमें [illegible] के शब्द याद दिला देता है—"I love Cæsar much, but I Rome more!"

इस प्रकार इस कहानी में प्रसादजी ने जहाँ एक ओर मधूलिका देश प्रेम की रक्षा की है, वहाँ दूसरी ओर उसके प्रणय की भी। दो सत्यों के द्वन्द्वों का तो कुछ ऐसा ही परिणाम निकलना वाञ्छित होता है।

हमने अभी तक यही बताने का प्रयास किया है कि प्रसादजी की यह कहानी कितनी सुदृढ़ मनोवैज्ञानिक भूमि पर खड़ी है। परोक्ष रूप से इसमें मधूलिका के चरित्र-चित्रण की ओर कथावस्तु के गठन की भी व्याख्या साथ ही हो गई है। अब यहाँ कहानी की अन्य आवश्यकताओं की दृष्टि से भी संक्षेप में विचार लेना उपयुक्त होगा।

यद्यपि प्रसाद ने कहानी पर इतिहास का रंग चढ़ाया है पर यह कहानी ऐतिहासिक नहीं है। ऐतिहासिक कहानी उसे ही कहते हैं जिसकी सभी मुख्य घटनाएँ ऐतिहासिक हों और लेखक ने इतिहास की रूप रेखा को केवल माँसल बनाया हो; परन्तु यहाँ तो केवल स्थानों के नाम और वातावरण मात्र ऐतिहासिक है, अन्य सभी कुछ कल्पित है। कहानी में ५ वीं छठी शताब्दी ई० पू० का वातावरण चित्रित है। जिस समय मगध और कोशल भारत के प्रसिद्ध राज्यों में से थे। प्राचीन भारत में राजाओं द्वारा खेत जोतने के कृषि महोत्सवों का उल्लेख भी मिलता है। अश्वारोहियों की दौड़ भाग, उल्काओं का प्रकाश, इन्द्रपूजन की धूम धाम, स्वर्ण मंच, चामरधारिणी एवम् ताम्बूल-वाहिनी युवतियाँ, प्रकोष्ठ में चामर के शुभ्र आन्दोलन इत्यादि का वर्णन

एक सरसरी दृष्टि में

कामायनी

श्री रूपचन्द पारीक 'मानव'

★

काव्य में 'शाश्वत सत्य' की छाप उसकी अमरता की सर्वश्रेष्ठ कसौटी है। यों तो काव्य सामान्य कथानक ले कर भी चल सकते हैं पर महाकाव्य का कथानक भी महत्त्वपूर्ण होना अच्छा समझा जाता है। Dante की Divine Comedy और Milton के Paradise Lost भी कथानक का गौरव ले कर चले हैं।

कामायनी हिन्दी के ही नहीं अपितु विश्व के अमर काव्यों में अपना स्थान सुरक्षित रखेगी यह बात उसे एक बार पढ़ते ही मन में घर कर जाती है।

'प्रसाद' उच्चकोटि के कहानीकार, नाटककार, उपन्यासकार और आलोचक हैं पर कामायनी ने यह सिद्ध कर दिया कि 'प्रसाद' सर्वप्रथम कवि हैं और बाद में कुछ अन्य। इस विशद् ग्रन्थ में प्रसाद की समस्त प्रवृत्तियों का समाहार हो गया। सच तो यह है कि 'तितली' और 'कामना' से भी 'प्रसाद' का सुनहला रूप 'कामायनी' में प्रस्फुटित हुआ। कामायनी विशुद्ध कलात्मक महाकाव्य का (Epic of Art) है।

कामायनी का विषय भारतीय इतिहास की प्राचीनतम घटना जल-प्लावन की है। यह घटना केवल घटना (कल्पना) ही नहीं बल्कि ऐतिहासिक सत्य भी है जिसका प्रमाण विश्व के विभिन्न धर्मग्रन्थों में मिलता है। कामायनी में केवल कथा ही की प्रधानता न हो कर विचारधारा भी है। कवि रूपकों द्वारा अपनी विचारात्मकता को प्रश्रय देता है और भावना के [illegible] की ओर कटिबद्ध रहता है।

अथवा उल्लेख कहानी के छोटे से कलेवर में भी उस युग को सजीव कर देने की सामर्थ्य रखता है।

प्रसाद की कहानियों के कथानक प्रायः अत्यन्त विरल होते हैं परन्तु इस कहानी का कथानक सर्वथा आख्यायिका के उपयुक्त एवम् सुगठित है। उसमें कहीं शिथिलता नहीं आने पाई है। कहीं अनावश्यक प्रकृति वर्णन अथवा रूप वर्णन नहीं है। कृषि महोत्सव के समय मधूलिका के सौंदर्य वर्णन में कही गई दो चार पंक्तियां अरुण के हृदय में उसका आकर्षण जगाने के लिये आवश्यक थीं। इसी प्रकार कहानी के आरम्भ में किया गया संक्षिप्त प्रकृति वर्णन कृषि महोत्सव की बड़ा उपयुक्त भूमिका तैयार करता है। आर्द्रा-नक्षत्र के घुमड़ते हुए बादलों में देवदुंदुभी के घोष और प्राची से स्वर्ण पुरुष के झांकने में और नगाड़ों के घोष के बीच निकलने वाली महाराज की सवारी और उमड़ती हुई जनता के वर्णन में कितना सुखद साम्य हैं। यही वातावरण चित्रण की सुन्दरता है। इसके अतिरिक्त अन्यत्र भी जहां कहीं प्रकृति वर्णन हुआ है, वह मधूलिका की परिवर्तित मनोवस्था के लिये उपयुक्त पृष्ठ भूमि तैयार करता है। यथा, "शीतकाल की रजनी, मेघों से भरा आकाश, जिसमें बिजली की दौड़-धूप। मधूलिका का छाजन टपक रहा था। ओढ़ने की कमी थी। वह ठिठुर कर कोने में बैठी थी। मधूलिका अपने अभाव का आज बढ़ा कर सोच रही थी।" अथवा कर्त्तव्याकर्त्तव्य का निर्णय करने में समझी हुई मधूलिका को कैसी उपयुक्त प्राकृतिक पृष्ठ भूमि में प्रस्तुत किया गया है; यह भी देखिये—"मधूलिका उठ खड़ी हुई। कँटीली झाड़ियों से उलझती हुई क्रम से बढ़ने वाले अंधकार में, वह अपनी झोपड़ी की ओर चली।

❀ ❀ ❀

पथ अंधकार मय था और मधूलिका का हृदय भी निबिड़ तम से भरा था।"

कहानी की भाषा कवित्वपूर्ण है—यह तो प्रसाद का नाम पढ़ कर ही समझा जा सकता है। सेन दिन आने पर निराभिन मधूलिका की दशा।

एक पंक्ति में ही कितना उपयुक्त चित्रण हुआ है—"अरुण ने देखा, एक छिन्न माधवीलता वृक्ष की शाखा से च्युत होकर पड़ी है। सुमन मुकुलित थे, भ्रमर निस्पंद।"

इस प्रकार कथावस्तु, चरित्र चित्रण, मनोविश्लेषण, वातावरण चित्रण अथवा वर्णनों की समीचीनता, चित्ताकर्षक संवाद, कवित्वपूर्ण भाषा एवम् आकर्षक आरम्भ और अनपेक्षित अंत इत्यादि सभी दृष्टियों से प्रसाद की यह कहानी श्रेष्ठ है। इसमें कहानी के सभी तत्वों का सुखद समन्वय है। न किसी तत्व का अनावश्यक विस्तार है, न नितांत उपेक्षा।

२. विसाती—

इस कहानी की टेकनीक "पुरस्कार" से बहुत भिन्न प्रकार की है। "पुरस्कार" में जहाँ हमें चित्ताकर्षक वातावरण से आरम्भ होकर भाव संघर्ष की घाटियों में प्रवाहित होता हुआ चरमोत्कर्ष तक पहुंचने वाला कथानक, मनोवैज्ञानिक भूमि पर क्रीड़ा करने वाले नारी-पात्र के चरित्र की यथार्थ झांकी, संक्षिप्त पर उपयुक्त वातावरण चित्रण एवम् कवित्वपूर्ण शैली आदि सभी के दर्शन होते हैं, वहाँ "विसाती" में केवल वातावरण और भावचित्रण का ही प्राधान्य है। इसमें एक घटना घटती है, इसी से यह कहानी है, अन्यथा कहानी की अपेक्षा इसे गद्य-काव्य कहना ही अधिक उपयुक्त होता। एक युग था जब "एक राजा और उसके सात थी रानियाँ" वाली घटनाओं के चमत्कार वाली कहानियाँ चलती थीं; फिर यह युग आया जब कहानी लेखक पात्रों के मनोविश्लेषण द्वारा उनके व्यक्तित्व की मनोरम झाँकी देने लगे। इसी समय कुछ कहानी लेखक ऐसे भी हुए जो अपनी कहानियों में एक नाम मात्र की घटना के सूत्र पर भावों के भारी भरकम कपाट घुमाने लगे। 'प्रसाद' और हृदयेश के नाम इस प्रकार के कहानी लेखकों में उल्लेखनीय हैं यद्यपि प्रसाद की शैली अधिक स्वाभाविक और सरस है।

विसाती प्रसाद की ऐसी ही एक भाव प्रधान कहानी है जिसमें प्रसाद जी ने एक पहाड़ी मुसलमान नौजवान के प्रणयी हृदय की एक मर्मस्पर्शी

भांकी कराई है। वस्तुतः केवल इतनी ही है कि गिरि-संकट के उस पार शैल माला के अंचल में विहँसने वाले गुलाबों के बीच क्रीड़ाएँ करने वाली अनिंद्य सुन्दरी शीरीं का किसी नौजवान से प्रेम हो चुका है; परन्तु शीतकाल में बुलबुलों के दक्षिण की ओर चले जाने के साथ साथ उसका वह पालतू बुलबुल भी हिन्दुस्तान को चला गया है—माल बेचने। उसी की प्रतीक्षा में शीरीं अपने बुलबुल (प्रणयी) के कष्टों की कल्पना करती हुई उनके निवारण के दिवा स्वप्न देखने में मग्न रहती है परन्तु उसका क्रूर बाप उसे किसी अन्य सरदार से ब्याह देता है। फिर एक दिन उसका बुलबुल-बिसाती-अनेक उपहार लेकर लौटता है परन्तु उस बुलबुल का फूल तो किसी और के सेहरे में गुंथा जा चुका था! शीरीं का पति कुछ वस्तुएं छांट कर मोल पूछता है पर वह कहता है—मैं ये वस्तुएं उपहार में ही देता हूँ, बेचता नहीं। सरदार उसे चले जाने को कहता है। वह चला तो जाता है परन्तु हाथ मुंह धोने के बहाने अपना माल वहीं छोड़ जाता है और उसे लेने कभी नहीं लौटता। शीरीं ने उसके तन और मन दोनों का बोझा तो अवश्य उतार लिया परन्तु उसका मोल न चुका पाई!

दिन दिन रूप बदलने वाली कहानी की परिभाषा देने की कठिनाई का अनुभव करते हुए श्री गुलाबराय एक स्थान पर लिखते हैं कि "उसकी परिभाषा देना उतना ही कठिन है जितना कि बिहारी की नायिका की तसवीर खींचना जो चतुर चितेरों को भी कूर देना देती है। इसलिये कुछ अनुभवी आलोचकों ने हैरान होकर संक्षिप्तता को उसका एक मात्र लक्षण माना है।" यदि सचमुच संक्षिप्तता को ही कहानी की एक मात्र कसौटी मान लिया जाय तब तो "बिसाती" केवल ४ पृष्ठों की होने से संभवतः हिन्दी की सभी कहानियों से श्रेष्ठ प्रमाणित हो जायगी और "उसने कहा था", "ताई", "पुरस्कार", "पंच परमेश्वर" "बड़े घर की बेटी" आदि सभी कहानियाँ अपने अपेक्षाकृत दीर्घाकार के लिये सिर धुन कर पछताने लगेंगी। परन्तु प्रसन्नता की बात है कहानी का यह लक्षण आलोचकों ने "हैरान होकर" ही निर्धारित किया है—विचारपूर्वक नहीं। इसलिये बिसाती की संक्षिप्तता उसकी

प्रिय मिलन की व्याकुलता थी, वहाँ इस अंश में संसारी भावों के
प्रधानता है। पहले शीरीं अपने प्रवासी के कष्टों की कल्पना करके
होती है-हिन्दुस्तान के किसी समृद्धिशाली नगर की गलियों में पैठ
सारे परिश्रम से चूर होकर घूम रहा होगा उसका प्रिय! उसे दो
भोजन मिल सके इतना भी। और अगर वह न बेच पाता होगा तो कैसी
नीच दशा होती होगी उसकी-किस प्रकार वह भारतीय गृहस्थों के
माल खरीद लेने की मिन्नतें करता होगा। इत्यादि।

फिर कल्पना भोत बदलता है। वह कामना करने लगती है कि यदि
उसका वश चले तो प्रत्येक हिन्दोस्तानी गृहस्थ को इतनी सम्पत्ति दे डाले
जिससे आवश्यकता न होने पर भी वे उसके प्रवासी प्रिय का माल खरीदें।
प्रिय को सुखी देखने की यह स्वाभाविक लालसा भी कितनी उदार भावुकता
का सहारा लेकर खड़ी हुई है।

कभी वह प्रिय मिलन की उत्कंठा से व्यग्र हो कर कल्पना के निर्दि
मार्ग से खैबर के गिरि-संकट को पार करने लगती है तो कभी उसे क्रूर पहा
सर्दार, अपने पिता का ध्यान पुनः चिंतामग्न कर देता। इतने में एक
(उसके विवाह की) मेंहदी आने की सूचना लेकर उसे बुलाने आती है-
का कल्पना-लोक छिन्न भिन्न हो जाता है। कल्पना-कितनी मधुर! य
विकता-कितनी कठोर!

इस प्रकार कहानी के दूसरे अंश मे चिंता, मिलनोत्कंठा, प्रिय के
की लालसा, तन्मयता आदि की अच्छी व्यंजना हुई है।

कहानी के तीसरे विभाग में इस भाव-चित्र को प्रसाद ने घटना की
चूलें प्रदान करके उसे कहानी का स्वरूप प्रदान किया है। आरम्भ इसका भी
वातावरण चित्रण से ही हुआ है, पर यहाँ उसका विस्तार बहुत कम है। यहाँ
भी वातावरण शीरीं की मनोवस्था को प्रतिबिम्बित करने वाला है। वसंत का
पवन यहाँ झरने का आलिंगन नहीं करता अपितु अपने थपेड़ों से सैंकड़ों
फूलों को रुला देता है और वे मधुर-धारा के अश्रु बहाने लगते हैं। बुलबुलें

निर्दयता पर क्रन्दन करती हैं और शीरीं सब कुछ सहन। नारी के हृदय भावना का तिरस्कार करके उसे किसी के गले मढ़ देने वाले बाप की रता की शिकार कोमलांगी शीरीं की मनोवस्था की व्यंजना के लिये उसके म्पत्य जीवन के ऐसे ही प्रभात का वर्णन उचित था।

अपने पति के साथ बैठी हुई शीरीं के सम्मुख उसका वही आराध्य स्वामी (बिसाती) अपने माल का गट्ठर लेकर आता है और शीरीं का पति उसमें से काश्मीर की बनी कई वस्तुएँ शीरीं को उपहार देने के लिये छाँटता है परन्तु जब उनका मोल पूछता है तो बिसाती कहता है—"मैं उपहार देता हूँ, बेचता नहीं। ये विलायती और काश्मीरी सामान मैंने चुन कर लिये हैं। इनमें मूल्य नहीं हृदय भी लगा है। ये दाम पर नहीं बिकते।"

बड़ी मर्मस्पर्शी परिस्थिति का निर्माण किया है लेखक ने। जिसके लिये हिन्दोस्तान भर में घूम घूम कर सुंदर उपहार चुने गये हैं, वही आज पराई हो चुकी है और उसी के सामने आज उसी प्रणयी के प्रणय का गला घोंट कर उसकी शीरीं को दबा बैठने वाला सर्दार उसी को उन वस्तुओं का मोल चुकाना चाहता है! कैसी विडम्बना है! क्या मूल्य हो सकता है उन वस्तुओं का! परन्तु शीरीं का पति इन सब बातों से अनभिज्ञ था। उसने बिसाती को पागल सा समझ कर अपना सामान उठा ले जाने को कहा। बिसाती थके होने का बहाना करके हाथ मुँह धोने भरने की ओर गया और सामान जिसके लिये लाया था, उसी के चरणों में बिखरा छोड़ गया। वह फिर कभी नहीं लौटा। देने वाले ने दे दिया, लेने वाले ने ले लिया; और कोई कुछ समझे या न समझे। परन्तु शीरीं को दुख इस बात का था कि उसने बिसाती के तन और मन का बोझा तो अवश्य उतार दिया परन्तु उसके दाम न चुका सकी।

कहानी का अंत बड़ा मार्मिक है। विवाह के पूर्व प्रसाद ने शीरीं को अपने बिसाती के लिये चिंतित बताते समय उससे यह कामना करवाई थी कि हिन्दोस्तान के प्रत्येक गृहस्थ के पास वह इतना धन रख दे कि "वे अनावश्यक होने पर भी उस युवक की सब वस्तुओं का मूल्य देकर चाहे

बोझा उतार दें", परन्तु आज उसकी वह कामना उसीका उपहास कर र
है। क्योंकि उसने भी उस थके मांदे बिसाती का माल तोल लिया पर वह द
न चुका सकी ! वह आँसू भरी आंखों से गुलाब की झाड़ियों की ओर निह
ही रह गई और उसका "पालतू बुलबुल" उसके हाथ पर बैठ कर भी पं
उड़ गया—वह उसे पकड़ न पाई। आज फिर वही गुलाबों का राजकुम
अपने बुलबुल को खोज रहा है जैसा कहानी के आरम्भ में हमने उसे इसी
बुलबुल की प्रतीक्षा में लीन पाया था; परन्तु तब उसके हृदय में आशा क
उजेला था और आज अपनी लाचारी का अंधकार !

इस प्रकार हम देखते हैं कि "बिसाती" एक ऐसी रचना है जिस
आरम्भ गद्य-काव्य है और अंत एक मार्मिक कहानी।

"बिसाती" की अन्य विशेषताओं में उसके पात्रो की सार्थकता है।
यद्यपि उल्लेख चार पात्रों का हुआ है परन्तु शीरीं और बिसाती ही प्रध
हैं। अन्य पात्रों का अस्तित्व आभासित ही नहीं होता। जुलेखा तो मा
शीरीं की प्रेम-प्रतीक्षा को कविता में सजा कर प्रस्तुत करने के ही लि
उपस्थित होती है और दासी उसे दिवा-स्वप्न की मनोरम दुनिया से भं
कर वास्तविकता के कटु जगत में लाने के लिये ही। शीरीं का पति कहा
में अंतिम कचोट पैदा करने के लिये ही सामने आता है। नाम धाम हि
बिसाती सारी कहानी में अप्रस्तुत रह कर भी शीरीं के व्यक्तित्व पर इत
छाया हुआ है कि उसे गौण नहीं कहा जा सकता और कहानी के अंत में
उसका मौन व्यक्तित्व इतना उभर उठा है कि प्रसाद को इसका नामकरण
उसीके पीछे करना पड़ा।

जहाँ प्रसाद की कई अन्य कहानियों में कथोपकथन की प्रधानता रही
है वहां इस कहानी में वर्णन ही अधिक है—जुलेखा को छोड़कर कोई भी पात्र
एक दो वाक्यों से अधिक नहीं बोलता। साथ ही इस कहानी में गीतिकाव्य
की सी प्रभावान्विति भी मिलती है क्योंकि कथानक वर्णन स्पष्ट है यद्यपि
वह भी कहानी के अंतिम [illegible] न्हित है फिर भी (निर्वा

और पात्र आदि को देखते हुए यह अवश्य कहा जा सकता है कि प्रसाद ने अपनी इस कहानी में गागर में सागर भरने का पूरा प्रयत्न किया है। संक्षिप्तता पर जोर देते हुए किसी ने कहा है कि "No admitance except on business must be the short story writer's motto" और प्रसाद जी की यह कहानी इस कसौटी पर बिलकुल खरी उतरती है।

भाषा इसकी अलंकारिक एवम् कवित्वपूर्ण होते हुए भी सुबोध और सरस है। संस्कृत की तत्सम शब्दावली की ही सहायता से मुसलमानी जीवन का ऐसा स्निग्ध और सजीव चित्र अंकित करके प्रसाद ने हिन्दी पर अपने अद्भुत अधिकार का परिचय दिया है। विशुद्ध हिन्दी शब्दों के बीच बीच बुल बुल, दाड़िम, गुलाब, झरना, गिरिसंकट, लँवर, काफिला, कोहकाफ, शीरीं, जलेखा जैसे कुशलता से चुने हुए शब्दों का प्रयोग करके प्रसाद ने वातावरण चित्रण में फारसी के जैसा ही माधुर्य उत्पन्न कर दिखाया है। यह भी इस कहानी की विशेषता है।

इस प्रकार विसाती को चाहे हम विशुद्ध "कहानी" मानें या न मानें, उसके एक सरस, मधुर और कवित्वपूर्ण गद्य-रचना होने में संदेह नहीं।
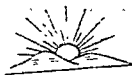
एक श्रेष्ठ उपन्यासकार अपने उपन्यास में समाज चित्रित करते हुए समाज के लिये उन आवश्यक तत्वों का भी उद्घाटन कर देता है जिनसे समाज का विकास हो सके। श्री वृन्दावनलाल वर्मा भी वर्तमान भारत के एक ऐसे ही सर्वश्रेष्ठ उपन्यासकार हैं और उनका उपन्यास मृगनयनी भी एक श्रेष्ठ रचना। इस एक ही रचना में उन्होंने ओजपूर्ण वीरता, प्रेम, जासूसी मन्त्र, संगीत, स्थापत्य आदि कलायें और समाज सुधारक तत्वों के साथ ऐसे भी बताई हैं। सर्वाधिक महत्वपूर्ण बात जो इस उपन्यास की नायिका के मुख से प्रकट होती है वह है—कला कर्तव्य को सजग किये रहे, भावनाशील को संबल दिये रहे, मनोबल और धारणा एक दूसरे का हाथ पकड़ रहें। कलाकार जगत के लिए यह उपन्यासकार का एक महान् संदेश है।

मृगनयनी—एक संक्षिप्त परिचय

* श्री चाँदमल कर्णावट एम० ए०

कथावस्तु—उपन्यास की कथा का आधार ऐतिहासिक है। इसका बीजवपन राई गांव (ग्वालियर से ११ मील दूर) के मध्य होता है जो वृक्ष रूप में फलीभूत होकर ग्वालियर को हरा भरा बनाता है। ग्वालियर के राजा मानसिंह का समय संवत् १४८६ से १५१६ तक है। इसी समय में राई में एक दरिद्र गूजर कुल की कन्या निन्नी (मृगनयनी) और लाखी दो बालाएं बड़ी वीरता का प्रदर्शन करती हैं। बीहड़ जंगलों में धनुष बाण से बड़े २ भीमकाय अरने भैंसे, तेंदुए आदि की शिकार बात की बात में कर लेती हैं। इनकी वीरता और इनके शौर्य की प्रसिद्धि सुनकर राजा मानसिंह एक बार राई में आते हैं और निन्नी (मृगनयनी) के साथ उनका पाणिग्रहण हो जाता है। लाखी मृगनयनी की सहेली का भी अंतर्जातीय विवाह युवक अटल के साथ हो जाता है। यह विवाह जाति पांति के बंधनों को तोड़कर गुप्त रूप से होता है। कई कष्टों को सहन करते हुए लाखी और अटल भी राजा मानसिंह के

यहां सम्मानपूर्ण स्थान प्राप्त करते हैं क्योंकि निन्नी (मृगनयनी) अपनी बाल-सहेली लाखी को राजमहलों में पहुंच जाने पर भी सदैव याद रखती है। इसी समय सिकन्दर लोदी गयासुद्दीन आदि के आक्रमण ग्वालियर व पास पास होने प्रारम्भ हो जाते हैं। इन आक्रमणों का सामना राजसिंह बड़ी कुशलता से भरपूर दल से करते हैं और विजय प्राप्त करते हैं। इसी प्रसंग में सिकन्दर के जासूसों की कार्यवाहियों का भी यथेष्ट उल्लेख है। दूसरी ओर लाखी और अटल अपने गांव जो उन्हें राजसिंह के अनुग्रह से प्राप्त हुआ था, की सुरक्षा करते हैं। लाखी तो यहीं वीर गति को प्राप्त हो जाती है। युद्ध की घनघोर घटाओं के मंडराते रहने पर भी कला और प्रेम पनपते रहते हैं। ग्वालियर के गूजरी महल और मान मंदिर उसी के प्रतीक हैं। संगीत का विद्यापीठ भी ग्वालियर में उन्हीं दिनों की याद दिलाता है। जहां तानसेन जैसे जगत प्रसिद्ध गायकों ने शिक्षण प्राप्त किया था। अंत तक मृगनयनी (निन्नी) राजा मानसिंह (अपने पति) में राष्ट्रीय भावनाओं को भरती रहती है। चित्र कला का नमूना पेश कर वह कहती है—कर्तव्य वाले अंश अधूरे रखकर यह चित्र अभी पूर्ण नहीं हुआ है। प्रजा के सुख और स्वाधीनता का अंश नई रानी मृगनयनी के राजमहलों में प्रमुख स्थान प्राप्त करने पर अन्य रानियों की डाह का भी चित्रण किया गया है। मुख्य कथा तो मृगनयनी और राजसिंह से ही संबंधित है साथ ही उपकथा में लाखी और अटल भी हैं जिनको उपन्यास का उपनायक और उपनायिका कह सकते हैं। नियामुद्दीन मुहम्मद बघर्रा आदि के जीवन-वर्णनों और युद्धों के साथ संगीत रचनाओं के आयोजन भी कथा-वस्तु के अंग हैं। इस संपूर्ण कथा की एक सर्वांग योजना है। कथा की समाप्ति भी इसी कला और कर्तव्य के समन्वय की भावना को लिए हुए ऐसी है। मानसिंह कहते हुए दोनों में [illegible] दोनों—कला और कर्तव्य का [illegible] [illegible] (प्रजा के [illegible]) को [illegible] [illegible] [illegible]। फिर इन दोनों को [illegible] [illegible] [illegible]। इसके [illegible] मानसिंह और [illegible] मृगनयनी [illegible]

[illegible] यहाँ कथावस्तु में एक कटु आलोचना की वस्तु है [illegible] भी इस प्रभावपूर्ण है।

इसके पात्र सभी सजीव हाड़ माँस के पुतले से हैं। लेखक के कथनानुसार प्रायः सभी पात्र ऐतिहासिक हैं। मानसिंह नायक और मृगनयनी नायिका हैं तथा लाखी उपनायिका और अटल उपनायक कहे जा सकते हैं। कुछ जासूसी पात्र भी हैं जो मृगनयनी को अपने राजा के लिए प्रलोभन देकर येन केन प्रकारेण ले जाने की कोशिशें करते हैं। इनमें नट और नटिनी विशेष प्रधान हैं। सिकंदर का एक जासूस राजसिंह भी सुरंगों आदि का पता लगाने के लिए आता है। संगीतज्ञ बैजू-बावरा की ख्याति सर्वत्र ज्ञात ही है। वह भी इस उपन्यास का एक पात्र है और राजा मानसिंह और मृगनयनी का गायक है, जिसने गूजरी रानी के नाम पर गूजरी टोड़ी, मंगल गूजरी रागें बनाई हैं।

मृगनयनी का चरित्र बहुत आदर्श पूर्ण है। रा[illegible] यह गूजर कुलीन कन्या शौर्य और परम सौन्दर्य के लि[illegible] हृदय स्त्रियोचित वीरता, धीरता; सौहार्द्र तथा कला[illegible] है। उसका राजा मानसिंह के साथ पाणिग्रहण के [illegible] का जीवन सदैव अमर रहेंगे। वह [illegible]

"नील परिधान बीच सुकुमार
खुल रहा मृदुल अधखुला अंग।
खिला हो ज्यों बिजली का फूल,
मेघ-वन बीच गुलाबी रङ्ग।
घिर रहे थे घुँघराले बाल
अंस अवलम्बित मुख के पास।
नील घन शावक से सुकुमार,
सुधा भरने को विधु के पास।"

श्रद्धा कहती है:—

"यह आज समझ तो पाई हूँ
मैं दुर्बलता में नारी हूँ
अवयव की सुन्दर कोमलता
ले कर मैं सब से हारी हूँ।"

श्रद्धा और मनु के संयोग से मनु में वासना का और श्रद्धा में लज्जा का विकास होता है। उसे (श्रद्धा को) सदैव प्रेममग्न देख मनु में अधिकार की प्यास जगती है। उनके हृदय में ईर्ष्या का भाव उत्पन्न होता है। कामायनी (श्रद्धा) को अपनाने की भावना बल पकड़ती है और वे पूछ बैठते हैं—

"कौन करुण रहस्य है तुम में छिपा छविमान?"

मनु को प्रतीत होता है कि वे श्रद्धा की ओर आकर्षित हो रहे हैं—

"'मैं तुम्हारा हो रहा हूँ', यही सुदृढ़ विचार
चेतना का परिधि बनता घूम चक्राकार।"

इड़ा के संसर्ग में मनु ने बुद्धिवाद का आश्रय लिया, राष्ट्र की स्थापना की, सुख को ढूँढ़ने दौड़े परन्तु हाथ दुःख ही आया:—

"हारती थी वह स्पर्धा जिसकी पूरी प्यास नहीं।"

"विकार वासना पर रहता है सूना मानस देश यहाँ।"

...रमहल में पहुंचने पर भी वह अन्य रानियों द्वारा कष्ट पहुँचाये जाने ...भी सरल व सहानुभूति पूर्ण रहती है। गूजरी महल (ग्वालियर में) उसका ...मिट स्मारक है। राजा मानसिंह तो सुविख्यात हैं। उनका कला प्रेम उन्हें ...दैव अमर बनाए रक्खेगा। उनका ग्वालियर का मान मन्दिर उनका अमिट ...मारक है। राजनीति के वे एक सफल खिलाड़ी थे। कुछ मदद और युद्धों ...ों कर उनने कूट २ कर भरी थी। उनका व्यक्तित्व युद्ध क्षेत्र में खूब खिला ...। परन्तु उन युद्ध की कथाओं में भी उनके कला मिश्र हृदय का पूर्ण परिचय ...प्राप्त होता है। जाति-पांति के भेद भाव की कड़ी आलोचना और बुराई ...। वे सब विरोध करते हैं। लाखी और अटल के विवाह प्रसंग को लेकर वे ...वारी योजना का प्रबल विरोध करते हैं। लाखी का सौंदर्यपूर्ण जीवन बड़ा ...अंकित किया गया है। अटल के साथ उसके हृदय में प्रेम को भी उतना ही ...मान है वह अटल के साथ अपने प्रेम को अस्त संकटों में भी सु-चित ...होते हैं। बघर्रा और नियामतुद्दीन के चरित्र भी यथोचित चित्रित किये ...ये हैं।

कथोपकथन भी उपन्यास का एक तत्त्व है। इसमें कथोपकथन भी ...है उत्तम हुए हैं। छोटे और बड़े सभी कथोपकथन पात्रों के चरित्र का ...दर्शन करने में कमी नहीं रखते।

वातावरण के चित्रण में लेखक ईर्ष्या का पात्र है। जंगलों, नदियों, उद्यानों ग्रामों आदि का वातावरण चित्रोपम और स्वाभाविक है। निन्नी (मृगनयनी) और लाखी के आखेट का चित्र तो पाठक कभी भी नहीं भूल सकते। सघन जंगलों में से अरने-भैंसों का निकलना, तीर लगना, लोटना, हरे भरे लहलहाते हुए खेतों में फसल की रक्षा, नटों का खेल प्रदर्शन, मृगनयनी को राजा के पास ले जाने के प्रयत्न, सिकन्दर के साथ मानसिंह के युद्धों के वर्णन में वातावरण सजीव हो उठा है। ऐसे आकर्षक स्वाभाविक वातावरण के सफल बनाव तु मी प्रकार सफल हुए हैं। और ये वातावरण ...ह पर अमिट और स्थायी प्रभाव छोड़ गये हैं।

की वाहिनी राजस्थान के कवियों ने प्रवाहित की वह अन्यत्र दुर्लभ है। अतः लक्ष्य करने की बात यह है कि डिंगल के वीर रस की सबसे बड़ी विशेषता इसी नारी हृदय की वीर भावनाओं का उद्घाटन है। हमारे विचार से किसी भी साहित्य में नारी की वीर भावनाओं की अभिव्यक्ति इतनी ओजपूर्ण और विस्तीर्ण रूप में नहीं हुई जितनी कि डिंगल साहित्य में उपलब्ध है।

महा कवि सूर्यमल्ल मिश्रण वीर रस की परंपरागत विशेषताओं का निर्वाह करने वाले डिंगल साहित्य के अन्तिम कवि हैं। कवि की कीर्ति का मेरुदंड तो वंशभास्कर है किन्तु विशुद्ध डिंगल में लिखा हुआ प्रसिद्ध ग्रन्थ 'वीर सतसई' अपने आप में डिंगल साहित्य के अन्तर्गत वैशिष्ट्य को आत्मसात् करने वाला अद्भुत ग्रन्थ है जिसमें नारी का शक्ति रूप अपनी चरमता में परिलक्षित होता है। जिस तरह शिव ने शक्ति की सहायता से ही समस्त विश्व की सृष्टि की है उसी तरह वीरत्व की सृष्टि में भी वीरों को शक्ति रूपिणी वीर ललनाओं का योग अभीष्ट था। सूर्यमल्लजी के कितने ही दोहों के यही भाव ध्वनित होता है—

> 'हाकी टाबर मुहण घर, कारण पीठ पलाय
> मायड़ थाय निहार थण, थण पण थ जय बताय।'

युद्ध से भाग कर आ जाने वाले योद्धाओं की यही दशा होती थी, माता अपने स्तनों की ओर इशारा करके और वधू अपने चूड़े की ओर संकेत करके यह प्रकट करती है कि तूने माता का दूध लज्जित कर दिया है और वधू का सोहाग भी तुम्हारे जाने से अपमानित हुआ है। सखियों की आपसी बातचीत में भी वीरता के भावों की व्यंजना कवि ने अत्यन्त स्वाभाविक ढंग से दिखलाई है।

> "सहणी सबरी हूं सखी, दो उर उलटी दाह।
> दूध लजावे पूत सम, वलय लजावै नाह।"

पाणिग्रहण के अवसर पर और वधू के हाथों में जो भावों का सागर वर्णित होता है उसका वर्णन जितने ही कवियों ने किया होगा किन्तु

हाथ में लगे हुए तलवार के चिन्ह को अनुभव कर पति के वीरत्व और अपने चूड़े की लज्जा के जीवन भर रक्षित कहलाने के भाव का वर्णन करना तो सूर्यमलजी के भाग्य में बदा था—

'हथलेवे ही मूठ किए, हाथ विलग्गा माय,
लाखां वातां हेकड़ो चूड़ो मो न लजाय।'

पुरुष को कर्म पथ पर अग्रसर करने वाली नारी के रूप में भी कवि ने उसे चित्रित किया है—

'नीदाळू अब छोड़णा, भीड़ाणा कुच पीण।'

सूर्यमलजी ने वीर माता के दूध की जहर से तुलना की है। जिस तरह जहर खाया हुआ व्यक्ति अवश्य ही मरने को है उसी तरह उसके स्तनों का पान करने वाला भी वीर गति को अवश्य प्राप्त होगा इसमें संदेह नहीं। माता का वात्सल्य भाव विश्व विख्यात है परन्तु राजस्थानी माता का पूर्ण रूप वीरत्व से युक्त होने पर ही प्रकट होता है। सच पूछा जाय तो वात्सल्य के भाव से भी परे इस भाव का स्थान है। जिस तरह 'लीला' कृष्ण भक्तों की सबसे ऊंची कल्पना है उसी तरह वीर रस के इन कवियों की यह कल्पना भी सबसे ऊँची कल्पना है।

महाकवि कालिदास ने 'अलका' नगरी का वैभव प्रकट करते समय वहां के नर-नारियों को सदा यौवन से उन्मत्त बताया है। सूर्यमलजी ने भी वीर योद्धाओं और वीर ललनाओं में सदा निवास करने वाले यौवन का वर्णन करके शृंगार के सहारे जिस वीर भाव की अभिव्यक्ति की है वह अनिर्वचनीय है—

'मतवालो जोबन सदा तूझ अठाई मोर।
पतिया धण पहली पड़े, बूढ़ा पण न सुहाय'॥

यदि बुढ़ापे के दिन आ भी गये तो पति को यही डर बना

की नारिनों राजस्थान के कवियों ने प्रवाहित की वह अन्यत्र दुर्लभ है। अतः लक्ष्य करने की बात यह है कि डिंगल के वीर रस की सबसे बड़ी विशेषता इसी नारी हृदय की वीर भावनाओं का उद्घाटन है। हमारे विचार से किसी भी साहित्य में नारी की वीर भावनाओं की अभिव्यक्ति इतनी ओजपूर्ण और विस्तीर्ण रूप में नहीं हुई जितनी कि डिंगल साहित्य में उपलब्ध है।

महाकवि सूर्यमल्ल मिश्रण वीर रस की परंपरागत विशेषताओं का निर्वाह करने वाले डिंगल साहित्य के अंतिम कवि हैं। कवि की कीर्ति का मेरुदंड तो वंशभास्कर है किन्तु विशुद्ध डिंगल में लिखा हुआ प्रसिद्ध ग्रन्थ 'वीर सतसई' अपने आप में डिंगल साहित्य के अन्तर्गत वैशिष्ट्य को आत्मसात् करने वाला अद्भुत ग्रन्थ है जिसमें नारी का शक्ति रूप अपनी चरमता में परिलक्षित होता है। जिस तरह शिव ने शक्ति की सहायता से ही समस्त विश्व की सृष्टि की है उसी तरह वीरत्व की सृष्टि में भी वीरों को शक्ति रूपिणी वीर ललनाओं का योग अभीष्ट था। सूर्यमलजी के कितने ही दोहों से यही भाव ध्वनित होता है—

'डाढी ठाकर सहण कर, कारण दीठ चड़ाय
मायड़ स्ताय दिखाय थण, थण पण चजय बताय।'

युद्ध से भाग कर आ जाने वाले योद्धाओं की यही दशा होती थी, माता अपने स्तनों की ओर इशारा करके और वधू अपने चूड़े की ओर संकेत करके यह प्रकट करती है कि तूने माता का दूध लज्जित कर दिया है और वधू का सोहाग भी तुम्हारे जीते जी अपमानित हुआ है। सखियों की आपसी बातचीत में भी वीरता के भावों की व्यंजना कवि ने अत्यंत स्वाभाविक ढंग से दिखलाई है।

"सहणी सबरी हूँ सखी, दो उर उलटी दाह।
दूध लजाये पूत समय; वलय लजायो नाह।"

पाणिग्रहण के अवसर पर और वधू के हृदयों में जो भावों का सागर तरंगित होता है उसका वर्णन कितने ही कवियों ने किया होगा।

साहित्य की कला अनन्त काल से मानती चली आ रही है। साहित्य की विलक्षणता की जाँच आर्थिक सिद्धान्तों से करने वाले लोग ठीक उसी प्रकार भ्रान्त हैं जैसे वे लोग जो समग्र साहित्य की परीक्षा केवल कोमलता के रूढ़ संस्कारों की पृष्ठभूमि पर करना चाहते हैं।' श्री 'दिनकर' राजनीति के महत्व को तो स्वीकार करते ही हैं, परन्तु वे साहित्य को राजनीति की अनुचरता स्वीकार करने को तैयार नहीं हैं। यह ठीक भी तो है क्योंकि इसके बिना स्वतन्त्र मस्तिष्क के विकास के मार्ग अवरुद्ध हो जायेंगे और साहित्यकार राजनीति व उसकी सत्ता के हाथ का केवल एक खिलौना मात्र रह जायेगा। श्री 'दिनकर' साहित्य में उदारवादी विचारधारा के समर्थक हैं, इसलिए ही श्री मन्मथनाथ गुप्त को भी स्वीकार करना पड़ा है—'दिनकरजी' तो पलायन-वाद के साथ कुछ हद तक सन्धि करने को तैयार हैं। वे कहते हैं—"जिसे आप पलायनवाद कहते हैं, उसका मैं कटु आलोचक नहीं हूँ, क्योंकि मैं जानता हूँ कि कल्पना के जब-तब बन्द हो जाने से —।
विकास ही हो जाता है, और उसकी वाणी कला के
रहती है।" 'दिनकरजी' के इस कथन की विशेष आलोचना
नहीं है।'* प्रगतिशील लेखक संघ के प्रमुख साहित्यिक नेता
मार्क्सवादी आलोचक डा० प्रकाशचन्द्र गुप्त तक यह
'साहित्य और कला के पीछे कुछ न कुछ राजनीति अवश्य
यद्यपि सदैव ही सीधा राजनीति से उसका सम्बन्ध नहीं होता
दिनों हमारा बहुत सा साहित्य केवल नारेबाजी तक सीमित
देश में प्रगतिशील कला को इस रोग का सामना करना
हंगेरियन नेता जोजेफ रेवाई हंगरी के प्रगतिशील
कमजोरियाँ पाते हैं।'= हो सकता है कि श्री '
के अधिक कटु आलोचक हों, परन्तु इससे तो
है कि वे साहित्य में इस नारेबाजी और
जो खुले रूप में प्रस्तुत हो चुका है। इस

*'प्रगतिवाद की रूपरेखा'—पृष्ठ संख्या
=आधुनिक हिन्दी साहित्य : एक दृ

प्रयास में मैं अकेला नहीं, अपने अनेक सुयोग्य सहधर्मियों के साथ हूँ।' 'रश्मिरथी' में कथा-संवाद और वर्णन की भी महत्ता है। इस काव्य का 'थीम' चतुर्थ सर्ग की इन पंक्तियों में स्पष्ट है—

> 'दान जगत का प्रकृत धर्म है, मनुज व्यर्थ डरता है,
> एक रोज़ तो हमें स्वयं सब कुछ देना पड़ता है।
> बचते वही समय पर जो सर्वस्व दान करते हैं,
> ऋतु का ज्ञान नहीं जिनको वे दे कर भी मरते हैं।'

'धूप और धुआँ' के स्तर में कमी......

'धूप और धुआँ' भी श्री 'दिनकरजी' की नवीन कृति है। अन्य काव्यों के सम्मुख इसका स्तर कमजोर है। इससे श्री 'दिनकर' जैसे उच्चकोटि के कवि और प्रतिनिधि कलाकार को देखते हुए निराशा ही हुई है। 'इतिहास के आँसू' में इतिहास से सम्बन्धित पुरानी पर बहुत प्रसिद्ध कविताओं का संकलन है। श्री 'दिनकर' इतिहास के विद्यार्थी रहे हैं, इसलिये इतिहास ने उन्हें बहुत प्रेरित किया है।

साहित्य में विचार-स्वतन्त्रता के प्रबल हामी

संक्षेप में श्री 'दिनकर' की काव्यधारा के सभी पहलुओं पर सूक्ष्मता से प्रकाश डालना सम्भव नहीं है, अतएव अन्त में उनके साहित्यिक दार्शनिक दृष्टिकोण से सम्बन्धित कुछ पंक्तियों के साथ इस [illegible] निबन्ध को पूर्ण किया जा रहा है। साहित्य में श्री 'दिनकर' किसी भी सत्ता का अंकुश मानने को तैयार नहीं हैं। वे कहते हैं—'साहित्य के क्षेत्र में हम न तो [illegible] दल की सत्ता मानने को तैयार हैं, जो हम से नारेबाजी का समर्थन लिखवाता है और न किसी [illegible] की ही, जो हमारे शरीर और मन के [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] में आ सकता है और न [illegible] से हो। [illegible] 'स्वतन्त्रता' [illegible] करते हुए [illegible]

[illegible]

के विचारों को इतना अधिक स्पष्ट नहीं किया जा सकता है, अतएव 'मिट्टी की ओर' और 'अर्धनारीश्वर' आलोचना ग्रन्थ पढ़ लिए जाने चाहिए।

शान्ति के योद्धा श्री 'दिनकर'

कल तक जो 'शीत युद्ध' ही था, आज तो उसकी भावना गोलाबारी में होती जा रही है। श्री 'दिनकर' ने 'जनता के कवि के नाते उसका परिणाम रखते हुए उसका विरोध किया है—

'युद्ध का परिणाम ?
युद्ध का परिणाम ध्वंस-धाम !
युद्ध का परिणाम सत्यानाश !
रुंड-मुंड-लुंठन, निर्हिसन, मीच !
युद्ध का परिणाम लोहित कीच !'

सभी मतभेदों के बावजूद भी सभी वर्गों के कवि व कलाकार 'दिनकर' की इस विचारधारा को अस्वीकार नहीं कर सकते, तो, इसलिए सर्वमान्य इस परम्परा को हम आगे बढ़ाये चलें, यही उचित होगा।

'कामायनी' में तीन चरित्र हैं, मनु, श्रद्धा और इड़ा। मनु के चरित्र में भारी हलचल है अथवा यों कह सकते हैं कि उनकी वाणी में 'प्रसाद' की ही वाणी मुखरित हो उठी है। श्रद्धा का चित्र अत्यन्त ही सुन्दर और महाकाव्य के सर्वथा अनुकूल है। इड़ा का चरित्र अधिक स्पष्ट है। मनु के चरित्र में वह गाम्भीर्य और शान्ति नहीं जैसी कि आदि पुरुष के चरित्र में होनी चाहिये—

"तुम कहती हो विश्व एक लय है, मैं उस में
लीन हो चलूँ ? किन्तु धरा है क्या सुख इस में ?
क्रन्दन का निज एक अलग आकाश बनालूँ
उस रोदन में अट्टहास हो तुमको पा लूँ।"

इड़ा मनु को बुद्धिवाद की ओर अग्रसर करती है:—

"हाँ तुम ही हो अपने सहाय ?
जो बुद्धि कहे उसको न मान कर फिर किसकी नर शरण जाय,"

'प्रसाद' ने ज्ञानक्षेत्र को शुष्क कहा है क्योंकि वहाँ सुख दुःख से उदासीनता प्राप्त होती है और वह जीवन की पहेली को नहीं सुलझा सकता—

"प्रियतम ! यह तो ज्ञानक्षेत्र है
सुख-दुख से है उदासीनता;
यहाँ न्याय निर्मम, चलता है
बुद्धिचक्र, जिसमें न दीनता।"

'प्रसाद' को सूर्य, तारे, पृथ्वी यहाँ तक सृष्टि के कण कण में किसी विराट सत्ता के अस्तित्व का भान होता है:—

"विश्वदेव, सविता या पूषा
सोम, मरुत चंचल पवमान;
वरुण आदि सब घूम रहे हैं
किसके शासन में अम्लान ?

× × ×

दैनिक 'राष्ट्रदूत', जयपुर—

'पत्र की छपाई, सफाई व गेटअप सुन्दर है। ...... सामग्री सुन्दर, आकर्षक और प्रभावकारी है। जोधपुर की कुमार साहित्य परिषद् इस सम्बन्ध में बधाई की पात्र है।'

साप्ताहिक 'कांग्रेस सन्देश', जयपुर—

नवनिर्माण अपने नाम के अनुरूप ही वास्तव में नवनिर्माण है और इसमें जो साहित्य संग्रहित किया जाता है, वह एकदम नौजवानों के खून को गरमाने वाला और उन्हें भारतीय विचारधारा में नई सूझ देने वाला होता है। इस पत्र का जितना प्रचार हो सके, अवश्य होना चाहिए और इस शुभ आयोजन को आगे बढ़ाने में सहायता देना प्रत्येक व्यक्ति का पवित्र कर्तव्य है। इस प्रेरणाप्रद प्रकाशन के लिए हम कुमार साहित्य परिषद् को धन्यवाद तथा भावुकजी को बधाई देना चाहते हैं।

साप्ताहिक 'गणराज्य', बीकानेर—

'नई पीढ़ी को अपनी छाया में ला सकने वाले 'नवनिर्माण' में स्वस्थ साहित्य तथा आलोचना, शिक्षा, कला, कहानी, कवितायें और गद्य गीतों की सामग्री प्रचुर मात्रा में है। साहित्य को सर्वांगीण बनाने की ओट ले कर पलुषित राजनीति में दमघोटू साहित्य को इसमें स्थान नहीं मिल पाया है। केवल नारों में ही विश्वास न रखने वाले श्री 'भावुक' के आत्मविश्वास और दृढ़ संकल्प की आधारशिला पर निर्मित इस 'नवनिर्माण' की मशाल जलती रहे—यही हमारी कामना है।'

साप्ताहिक 'लोकजीवन', जोधपुर—

'यह निश्चय ही निर्विवाद सत्य है कि 'नवनिर्माण' राजस्थान में अपने ही ढंग का पहला सुन्दरतम साहित्यिक, सांस्कृतिक और कलात्मक प्रकाशन का प्रयास है। सभी सामग्री सुन्दर, ठोस और पठनीय है। प्रथम पृष्ठ कलात्मक है, छपाई गेट-अप सुन्दर है।'

सिर नीचा कर किसकी सत्ता
सब करते स्वीकार यहाँ,
सदा मौन हो प्रवचन करते
जिसका, वह अस्तित्व कहाँ ?"

'प्रसाद' की कविता में दुःख की गम्भीर व्यंजना हुई पर आप का जीवन के प्रति विद्रोही नहीं। कर्म करना ही आपका प्रधान लक्ष्य रहा है —

"कर्म-यज्ञ से जीवन के
सपनों का स्वर्ग मिलेगा,
इसी विपिन में मानस की
आशा का कुसुम खिलेगा।"

अन्त में श्रीमती शचीरानी गुर्टू के स्वर में कहना होगा कि "कामायनी में गूढ़ तात्त्विक विवेचन, प्रकृति-चित्रण, सौन्दर्य और रहस्यमय चेतन का वृहत् संयोजन है। विश्व के कोलाहल से दूर अदृश्य मानस-जगत की असंख्य उदात्त भावनाओं को अपने उन्मुक्त उच्छ्वासों में भर कर कवि ने निस्सीम गगन में निर्बन्ध छोड़ दिया है और साधना की तल्लीनता में अपने हृदय का समस्त रस इस भावसागर में उड़ेल, वह मानो निश्चिन्त हो गया है।"

❖

अनमोल हीरे

—विनोबा भावे

"कछुवे के समान कर्मयोग में शान्त लेकिन निश्चित कदम बढ़ने चाहिए।
कछुवे के समान मजबूत पीठ करके दुनियां के आघात सहने चाहिए।
कछुवे के समान विषयों से इन्द्रियों को खींच लेना चाहिए।
कछुवे के समान दृष्टि प्रेम-भरी हो।"

❖ समीक्षा—

'प्रिय प्रवास' में नारी-चित्रण

★ श्री अरविन्द जोशी 'पुष्प'

यद्यपि आज हमारे सम्मुख कृष्ण और राधा को विषय बनाकर लिखे गये काव्यों और महा-काव्यों की कमी नहीं—यही नहीं जो हैं, वे भी अत्यत उत्कृष्ट और ऊंचे सोपान पर पहुँचे हुए हैं। निःसन्देह इसी श्रेणी में हम "प्रिय-प्रवास" को भी रखेंगे क्योंकि इसका विषय भी कृष्ण-राधा ही है। यह बात दूसरी है कि कोई आलोचक इसे महा-काव्य माने अथवा न माने; जैसे आचार्य शुक्लजी इसे प्रबन्ध-काव्य की श्रेणी में भी नहीं रखते। कुछ भी हो, इतना तो अवश्य ही मानना पड़ेगा कि "प्रिय-प्रवास" जैसे खड़ी बोली में अतुकान्त रूप में लिखे गए काव्य-ग्रन्थ ने, अन्य महा-काव्यों से टक्कर ली है। किसी सीमा तक तो "हरिऔध" जी उनसे भी आगे बढ़ गए हैं।

जहां संपूर्ण-शास्त्रों के पारंगत कवि-कुल-शिरोमणि तुलसी, कवि-रत्न सूर, केशव, देव, बिहारी, पद्माकर आदि ने अपने-अपने गद्गद् हृदय से जिस कान्त-पादाम्बुजों में हृदय-प्रसून अर्पित किए हैं वहां "प्रिय-प्रवास" के लेखक "हरि-औध" जी भी अपनी श्रद्धा-भक्ति से कृष्ण-चरणों में 'प्रिय-प्रवास" रूपी पुष्प, जिसकी सुगन्ध साहित्य-लोक को सदा सुवासित करती रहेगी, चढ़ाने आए और निस्सन्देह इस भक्ति का प्रसाद भी पालिया।

काव्य-ग्रन्थ में वर्णित विषय है श्री कृष्णचन्द्र की मथुरा-यात्रा! साथ ही साथ यथा-सूत्र में श्री कृष्ण की ब्रजलीलाएं भी यथास्थान परिलक्षित होती हैं। सपूर्ण ग्रन्थ की समीक्षा करने पर यही स्पष्ट होता है कि कवि ने द्वापर-युग के सर्वश्रेष्ठ-व्यक्ति श्री कृष्ण का संपूर्ण-जीवन वर्णन करने का प्रयास किया है। वस्तुतः कवि, जीवन की पूर्ण झांकी उतारने में सफल नहीं हो सका है। श्री कृष्ण का आंशिक-जीवन चित्र ही चित्रित हो सका है।

स्त्री पात्रों में दो महत्त्वपूर्ण चित्रण हुआ है—ये चित्र हैं—ममतामयी मां यशोदा और अनन्य-प्रेमिका-राधा के। जिन भावधाराओं का प्रवाह इन चित्रों में हुआ है, वास्तव में उनसे काव्य में प्राण प्रतिष्ठित हो गए हैं। इन सजीव चित्रों को रंगने में कवि ने अपनी कुशल और पैनी दृष्टि का परिचय दिया है। देखाजाए तो येन केन प्रकारेण सभी पात्रों में वियोग-व्यथा अनुरंजित है। इसे हृदय दौर्बल्यता अथवा अत्यधिक भावुकता ही कह सकते हैं। इन्हीं हृदय दौर्बल्यताओं से और भावनाओं से पूर्ण हम मां यशोदा की ओर दृष्टिपात करते हैं।

श्री कृष्ण के व्रज जाने का संदेश सुन कर वह अत्यंत बेचैन है। वात्सल्य और स्नेह की साक्षात् मूर्ति-मां का हृदय द्रवित होजाता है। पुत्र-वियोग के कारण उसका हृदय अत्यधिक दुर्बल होजाता है। उसके हृदय में अनेकानेक शंकाएं उठने लगती हैं। देखिए —

"हृदय में उनके, उठती रही।
भय भरी अति-कुत्सित भावना।
विपुल-व्याकुल थे इस काल थी।
उरजिता-वश कौशल-जाल की॥"

कितनी स्वाभाविकता है! मां का हृदय कितना कोमल होता है!! यशोदा का कलपना अश्रु-प्रवाह होना, और भांति-भांति की शंकाएं उठना, उनकी प्रकृति बतलाता ही है। कौन ऐसी मां होगी जो अपने प्राण प्यारे लाड़ले पुत्र को बिछुड़ते देखकर तड़प न उठेगी? जिसे लोरियां गा-गा कर सुलाया, अंक में लाकर चूमा और गद्गद् हो हृदय से लगाया, उसे ही अपने से दूर जाते देख छटपटा उठेगी? कितनी विवशता है! किन्तु वियोग में कातर-जननि अपनी विवशता कहे किससे? सभी से कहती है —

"विवशता किससे अपनी कहूँ।
जननि क्यों न बनूँ बहु कातरा॥"

श्री कृष्ण, कुल-दीपक हैं। नंद और यशोदा के कुल का एक मात्र सहारा

उनका प्यारा पुत्र ही है। किन्तु जब उसी के प्रतिकूल प्रचण्ड वायु चलने लगी तो यशोदा का हृदय गतिहीन हो गया। प्रियमाण शरीर में केवल एक आशा की स्वांस ही शेष रही। नि.स्वार्थ-भावना की देवी का हृदय विकल हो उठा! उसका कोमल हृदय, अपने पुत्र के प्रतिकूल चलने वाले भयंकर आंधी को सहन नहीं कर सका। वह कहती है:—

> "परम - कोमल - बालक श्याम ही।
> कलपते कुल का यक चिन्ह है।
> पर प्रभो! उसके प्रतिकूल भी।
> अति प्रचण्ड-समीरण है उठा॥"

यशोदा का चित्रण अत्यंत मर्मस्पर्शी है। उसकी वेदना का अनुमान करना अत्यंत कठिन है। जिसका सर्वस्व लुट गया हो, खो गया हो, और जिसके चारों और अन्धकार ही शेष रह गया हो, उसकी व्यथा का माप-दंड क्या हो सकता है! वह न तो जगत-हित ही जानती है और न लोक. सेवा ही! वह तो जानती है एक मात्र अपने हृदय के टुकडे प्यारे कृष्णलला को! जब उसी के वियोग की दशा आज तो उसके हृदय का धीरज रूपी बांध टूट गया। उसकी अविरल धाराए अश्रु-प्रवाह के द्वारा फूट निकली!

कितनी मर्म स्पर्शिनी उक्ति है—

> "व्यथित होकर क्यों विलखूं नहीं।
> अहह धीरज क्यों कर धरूँ मैं॥"

यही-नहीं-" बारंबार अशक्त-कृष्ण-जननी थी मूर्छित हो रही" और जब उद्धव उन्हे श्रीकृष्ण का उपदेश सुनाते है, तब तो यशोदा वास्तव में ध्रुव-सत्य का उद्घाटन कर देती है।

देखिए "प्यासा प्राणी श्रवण करके वारि के नाम ही को। क्या होता है पुलकित कभी जो उसे पीने पावे।"

वास्तव में कवि ने अपनी तूलिका द्वारा एक आदर्श-मां का ऐसा चित्र उतारा है, जिसकी एक-एक रेखा से स्नेह की अनेकों धाराएँ

हो रही है । कोई भी सहृदय पाठक भावना में बहे बिना न रहेगा । इस नारी-चित्र को वात्सल्य और करुणा के रंगों से ऐसा रंगा है कि एकाएक हृदय भी उसी रंग में रंग जाता है ! वात्सल्य की लहरों पर मन लहराने लगता है ! यही कवि की सफलता है।

यशोदा के अतिरिक्त 'प्रिय-प्रवास' में,मर्म स्पर्शिता में उसी के समकक्ष एक और नारी-चित्र अंकित है । और वह है अनन्य-प्रेमीका-राधा का ! वस्तुतः 'प्रिय-प्रवास' का सारा अस्तित्व राधा पर ही आधारित है । अगर कृष्ण शरीर है तो राधा प्राण । निस्सन्देह 'प्रिय-प्रवास' राधा-कृष्ण की वियोगान्त प्रणय-कथा है ! प्रणय के वातावरण में ही इसका विकास संभव हो सका है। अगर इस महा काव्य मे वियोग का वातावरण निर्मित नहीं किया जाता तो यशोदा और राधा के मनोहर-वात्सल्य और प्रेम-पूर्ण व्यक्तित्व-विकास की छटा कदाचित ही उभर पाती !

नायिका-राधा और नायक कृष्ण, दोनों ही वियोगावस्था मे दुखी है। एक और कृष्ण व्यथित है तो दूसरी ओर नायका-राधा आँसुओं के हार गूंथ रही है। और फिर राधा कितनी कोमलाँगिनी है ! कैसे वह वियोग की व्यथा को सहन कर सकी ? कवि ने उसके सौन्दर्य-वर्णन में तो अपनी कलम ही तोड़ दी है। इस कलाकार का शब्दमय चित्र वत् वर्णन कवि की इस प्रतिभा को तो देखिए--

> "रूपोद्यान प्रफुल्ल-प्राय-कलिका राकेन्दु बिम्बानना ।
> तन्वंगी कला-हासिनी सुरसिका क्रीड़ा-कला पुत्तली ।
> शोभा-वारिधि की अमूल्य-मणिसी लावण्य-लीला-मयी ।
> श्रीराधा-मृदु भाषिणी, मृग दृगि-माधुर्य की मूर्ति थी ॥"

अहा, कितना सुन्दर वर्णन है ! राधिका सौन्दर्य रूपी बाग में विकसित होने वाली कली, पूर्णिमा के चन्द्रमा के समान मुख वाली सुकोमल और पतले दुबले अंगों वाली, सुन्दर हँसी से युक्त, नाना प्रकार की

गणि के समान, कोमल वचन बोलने वाली, मृगों के समान नेत्रों वाली सौन्दर्य की साक्षात मूर्ति थी !

और भी आगे इस स्त्री-जाति के रत्न की कांति देखिए, जो सर्वगुण संपन्न है, सम्मानिता है, अनन्या हृदया और सत्प्रेम-संपोषिका है—

"सद् वस्त्रा-सदलंकृता गुण युता-सर्वत्र सम्मानिता ।
रोगी वृद्ध जनोपकारनिरता सच्छास्त्र चिन्ता परा ।
सद्भावातिरता अनन्य-हृदया सत्प्रेम-संपोषिका ।
राधा थी, सुमना प्रसन्न वदना स्त्री जाति रत्नोपमा ॥"

ऐसी राधा को वियोग-व्यथा ने किस भाँति पीड़ित किया, यह शोचनीय है। जिस प्रेमी के प्रेम रस में जो दिन-रात की, जो रहती थी, वही कैसे उसका वियोग सुन भी सकी ? राधा, कृष्ण को अपने प्राणों से भी अधिक प्यार करती हैं उसके बिना उसका जीवन-वन शून्य है, नीरस है। इस सहृदय नारी ने जब कृष्ण के मथुरा जाने का संदेश सुना तो उसकी दशा उस विकसित-कली तुल्य हो गई जो हिमपात से मुरझा जाती है, म्लान हो जाती है—

देखिए— "विकसित-कलिका हिमापात से ।
तुरत जो बनती अति म्लान है ।
सुन अमंग मुकुन्द प्रवास का ।
मलिन त्यों वृष भानु-सुता हुई ॥"

फिर भी, राधिका एक अत्यन्त गंभीर और विचार शील रमणी के रूप में हमारे सामने आती है। कवि ने उसके विरह को एक अनुकरणीय रूप दे दिया है। राधा ने अपने जीवन का बलिदान प्रेम की वेदी पर विश्व कल्याण के हेतु बिना संकोच के कर दिया। उसने अपने पवित्र-प्रेम की रक्षा कर, अपने प्रियतम की इच्छाओं में अपने आप की आकांक्षाओं को एकाकार कर दिया है। यही तो प्राचीन कवियों की राधा और इस राधा में अन्तर है! 'प्रिय प्रवास' की राधा की यही मौलिक विशेषता है !

प्राचीन-कवियों ने राधा और कृष्ण की ओर से संभोग-शृंगार का

में वर्णन किया है यहाँ "हरि औधजी" ने प्रगाढ़ प्रेम की, पवित्र प्रेम की रक्षा की है ! प्रणयोपासना का उज्ज्वल रूप निखर कर बिखर गया है !

श्रीमती राधा अनन्य प्रणयोपासिका होते हुए भी एक आदर्श कुल ललना है। राधा का प्रेम, प्रेम का रक्षक है, मर्यादित है ! जब वह अपना वियोग-संदेश पवन के द्वारा कृष्ण तक पहुँचाती है, उस समय भी उसे दीन-दुखियों की चिन्ता अधिक है।

वह पवन से कहती है—

"तेरी जैसे मृदु पवन से सर्वथा शान्ति-कामी ।
कोई रोगी पथिक पथ में जो पड़ा हो कहीं तो।
मेरी सारी दुःखमय दशा भूल उत्कंठ हो के।
खोना सारा कलुष उसका शान्ति सर्वांग हो होना ॥"

यद्यपि इस प्रकार राधा की उदारता में हमें कोई सन्देह नहीं है ! वा कुल-ललना है, उदार है, प्रौढ़ा रमणी है। लोक-सेवा और देश-हित जानत है, विज्ञ और सर्व गुण-संपन्न है । तथापि-प्रणय-बावरी अपने आपक वियोगाग्नि से बचा नहीं सकी ! यदि राधा के हृदय को टटोल कर देख जाय तो स्पष्ट हो जायगा कि अन्ततः उसकी लोक-हित-प्रवृत्ति में कितन दम है। अतः यहाँ पूर्ण कसौटी पर हम उसे एक दुर्बल नारी ही पाते इसी लिए तो वह कहती है—

"क्यों होती है अहह इतनी यातना प्रेमियों को ।
क्यों बाधा औ विपद मय है प्रेम का पंथ होता।"

वह तो इतनी आगे बढ़ जाती है कि विधि के द्वारा रचित विधान प भी कोसती है—

"जब विरह विधाता ने रचा विश्व में था।
तब स्मृति रचने में कौनसी चातुरी थी ।"

जब चारों ओर से निराश हो जाती है तब तो मोह-मग्ना राध

"जो होता है सुखित उसको अन्य की वेदनाएँ ।
क्या होती हैं विदित वह जो भुक्त भोगी न होवे ।"

वह अपनी सखी से कहती है कि अब ये (कृष्ण) हमारे किस काम आवेंगे ? वह कहती है—

"पल पल अति फीके हो रहे हैं सितारे ।
वह सफल न मेरी कामनाएँ करेंगी ।"

इस प्रकार जहाँ श्रीमती राधा लोक-सेवी, और उदार रूप को लेकर आती है वहीं दूसरी ओर वह मोह-मग्ना प्रेमसी' कोमल-हृदया और वियोगाग्नि से व्यथित नारी रूप में भी आती है। वह स्वयं इस बात को मानती है—

'निर्लिप्त हूँ अधिकतर मैं नित्यशः संयता हूँ ।
तो भी होती अतिव्यथित हूँ श्याम की याद आते ।"

इस प्रकार 'प्रिय-प्रवास' की जीवन-सामग्री प्रेम की दुर्बलता ही है। इसी वातावरण में पल कर वह विकसित हुआ है ! कुल मिला कर महा-काव्य में तीन प्रकार के नारी-चित्र हमारे सामने आते हैं ! स्नेहमयी माँ यशोदा का, प्रेयसी राधा का, और बावली गोपांगनाओं का ! इन तीनों चित्रों की रेखाएँ यद्यपि भिन्न-भिन्न रूप में आई हैं, फिर भी इनको रँगने में जिस रंग—रस का प्रयोग किया गया है वह सामान्यतः एक ही है—और वह है— "वियोग ।"

★

:क दृष्टि में

रस और उनके उदाहरण

रस का वास्तविक अर्थ 'स्वाद' होता है। काव्य को पढ़ने, या सुनने से जब हृदय में अलौकिक आनन्द प्राप्त होता है, वही रस है।

विभाव, अनुभाव तथा संचारी भावों के मिश्रण से अभिव्यक्त स्थायी भाव ही रस के रूप में मूर्तिमान हो जाता है। प्रधान मनोभाव नौ माने गये हैं अत. रस भी नौ ही हैं।

१. रति (प्रेम) शृंगार रस में,
२. हास हास्य रस में,
३. क्रोध रौद्र "
४. शोक करुण "
५ उत्साह वीर "
६. भय भयानक "
७ घृणा वीभत्स "
८ विस्मय अद्भुत "
९. निर्वेद शांत " पाया जाता है

८ →सहायता से रसों की परिभाषा सरलता से बनाई जा सकती है।

१. शृंगार रस:–
(१) संयोग शृंगार और (२) वियोग शृंगार।

संयोग शृंगार:–
"दूलह श्री रघुनाथ बने,
दुलही सिय सुंदर मंदिर माहीं।
गावत गीत सबै मिलि सुन्दरि,
वेद जुआ जुरि विप्र पढ़ाहीं।"

वियोग शृंगार:–
'प्यारी प्रातः पवन इतना
क्यों मुझे है सताती।
क्या तू भी कलुषित हुई
काल की क्रूरता से॥'

२. हास्य रस:–
'चित्र कूट के घाट में,
भई भैंसन की भीर।
तुलसीदास गोबर गिनें
तिलक करें रघुवीर॥'

३. करुण रस:–
'गलियों सड़कों फुटपाथों पर
क्षुधा–ग्रस्त बेहाल।
जगह २ तड़फ रहे हैं
मानव के कंकाल॥'

४. रौद्र रस:–
"तू रजनीचर नाथ महा,
रघुनाथ के सेवक को जन हौं हौं।
बलवान है स्वान गली अपनी,
तोहि लाजन, गाल बजावत सौं हौं॥"
(अंगद ने रावण को कुत्ता तक बता दिया तब रावण का क्रोधित होना स्वाभाविक ही तो है। बस क्रोध भाव ही रौद्र रस है)

५. वीर रस:–
१ युद्ध वीर, २. दान वीर, ३. दया वीर।

"इसे कहो दुनिया भर में है
आज तुम्हारा ताहिर न्याव
घूंसे से घूंसे का थप्पड़ से
थप्पड़ का दिया जवाब॥"

६. भयानक रस:–
'घनन घनन घन बादल गरजें,
घहर घहर घर तोपें
ज्वालामुखी सजीव टैंक बन,
जब धरती पर कोप॥

७. वीभत्स रस:–
'ओझरी की झोरी कांधे
आंतन की सेल बांधे।'

८. अद्भुत रस:–
'दुनिया में धाक जाकी,
धाम धाम पूजा होती।
लंका हूं को सायर सतत दलत हैं॥
जनरल लाट बड़े
बादशाह नावैं सीस।
यादव करत पद-रज परसत हैं॥
(विलायत में जब गांधीजी लंगोटी पहन कर ही गये तब वहाँ के लोग इस महान् पुरुष की वेषभूषा देख कर आश्चर्य चकित हो गये।)

९. शांत रस:–
जग का आतप शीतल करते
नद–निर्झर झरते हैं।'

१०. वात्सल्य रस:–
'प्रिय पति वह मेरा
प्राण प्यारा कहां है!
दुख जल निधि डूबी
का सहारा कहां है!"
(अपने से छोटों से जो प्रेम किया जाता है, वही वात्सल्य रस है)
('काव्य प्रकाश' से उद्धृत)

★

'पृथ्वीराज-रासो'— अप्रामाणिक या प्रामाणिक ?

• प्रो० मोहनलाल 'जिज्ञासु'
एम० ए० एल-एल० बी०

'पृथ्वीराज-रासो' का दिलचस्प अध्ययन दो भागों में विभाजित किया जा सकता है। एक उसकी प्रामाणिकता-अप्रामाणिकता का प्रश्न और दूसरा, उसका साहित्यिक मूल्यांकन। हर्ष का विषय है कि ग्रंथ के साहित्यिक महत्व को तो सभी दिशाओं से अनुभव किया जारहा है, कुछ उस के काव्यात्मक सौंदर्य से परिचय भी रखते हैं; किन्तु जहाँ तक उसकी प्रामाणिकता-अप्रामाणिकता का प्रश्न है, हम अभी तक आगे नहीं बढ़ पाये हैं। हो सकता है, ग्रंथ की प्राचीनता हमारे इस मार्ग में बाधक हो, क्यों कि जो ग्रंथ जितना अधिक प्राचीन होता है, उसके कवि की जीवनी के सम्बंध में

"इधर जब से पृथ्वीराज-रासो की चीर-फाड़ 'डाक्टरों' के हाथ लगी है,
तब से तो ग्रंथ और उसके रचयिता की ऐसी दुर्गति हो रही है
कि हमारे हृदय को एक धका लगता है और युग युग के
परंपरागत प्रौढ़ विश्वास पर पानी सा
फिर जाता है।"

उतनी ही अधिक अड़चनें आ खड़ी होती हैं। होसकता है, चंद के नाम पर कुछ नाजायज फायदा भी उठाया गया हो, क्यों कि यह विशालकाय वीर ग्रंथ अब प्रक्षेपों से स्फीत और विकृत होगया है। लेकिन इन सब स्वाभाविक कारणों के रहते हुए भी उपलब्ध हस्तलिखित प्रतियों के आधार पर हम एक निश्चयात्मक उत्तर तक नहीं पहुँच सकते, ऐसा भी तो नहीं कहा जा सकता है। प्रस्तुत निबन्ध में कतिपय साधारण बातों को लेकर ही रासो की प्रामाणिकता-अप्रामाणिकता वाले प्रश्न का उत्तर देने का प्रयास किया जायगा।

'पृथ्वीराज रासो' के सम्बन्ध में विद्वानों ने विविध मत प्रकट किये हैं। बहुतों ने इसे जाली ग्रंथ करार दिया है, तो बहुतों ने इसे प्रामाणिक भी माना

सरस भावनायें कवियों की सम्पत्ति हैं तो मस्तिष्क में उबलती हुई घटनाओं की शुष्क नारतम्यता इतिहासकारों की अक्षय निधि ! एक हृदय-प्रधान है तो दूसरी मस्तिष्क प्रधान।

उपर्युक्त सत्य को स्वीकार कर यदि हम आलोच्य ग्रंथ की प्रामाणिकता-अप्रामाणिकता का परीक्षण करें तो गौरीशंकर हीराचन्द ओझा, मुंशी देवी प्रसाद, डा० दशरथ शर्मा, डा० ग्रियर्सन, प्रोफेसर बूलर, मुरारीदान और श्यामलदास, रामचन्द्र शुक्ल आदि के तर्क-वितर्क सहज ही में रद्द किये जा सकते हैं। इस प्रथम दल का नेतृत्व करने वाले ओझाजी ही हैं। प्रोफेसर बूलर, मुंशी देवी प्रसाद तथा मुरारीदान और श्यामलदास तो उनके पद-चिन्हों का अनुकरण करते हुए से प्रतीत होते हैं, क्यों कि इन्होंने केवल एक दो बार ही अपने विचार प्रकट करके अवकाश ग्रहण कर लिया। फिर कहने के लिए कोई तंत की बात भी नहीं है। ओझाजी के मतानुसार 'रासो' में वर्णित घटनायें इतिहासिक तथ्यों से मेल नहीं खातीं एतदर्थ चन्द का पृथ्वीराज का समकालीन होना उनकी दृष्टि में परम संदिग्ध है। उनकी इतिहासिक छान-बीन के कतिपय प्रमाण अलग से देखे जासकते हैं। ❀ यहाँ केवल इतना कह देना ही पर्याप्त होगा कि उसके तर्क ऐतिहासिकता से बोझिल हैं, उनमें हृदयता का नितान्त अभाव है। एक के बाद ऐतिहासिक घटना को लेकर 'रासो' की प्रामाणिकता पर विफल प्रहार करने की चेष्टा की गई है। चौहानों की उत्पत्ति, चौहानों की वंशावली, चन्द का नाम, चन्द की माता का नाम, चन्द की बहिन का नाम, पृथ्वीराज का विवाह, पृथ्वीराज का राजसूय-यज्ञ, शहाबुद्दीन का मारा जाना आदि प्रसंगों की तुलनात्मक जांच में उनकी ऐतिहासिक-हठ ही अधिक दृष्टिगोचर होती है। कवि का अपना एक अलग संसार होता है। इस कथन की रक्षा और 'कवि' शब्द के अन्तर्गत आने वाले नाना भावों की रक्षा ओझाजी की जांच से नहीं होती। सारांश यह कि एक समालोचक के लिए ऐतिहासिकता ही सब कुछ नहीं—आत्मज्ञान, श्रद्धा, विश्वास, सूझ तथा कल्पना का होना

❀ देखिये, ना० प्र० पत्रिका (नवीन संस्करण) भाग १, पृष्ठ ४३२ से ४५२ तक

भी आवश्यक है।' जिसमें यही कल्पना-शक्ति नहीं, वह पाठक कैसा! ओझाजी ने तत्कालीन लोक-रुचि, वातावरण काव्य-रचना-शैली में इसी माहा कल्पना-शक्ति का परिचय दिया होता तो शायद "पृथ्वीराज रासो" के नाम पर चलने वाला यह बखेड़ा न खड़ा होता। . . . .

प्रथम दल के ठीक विपरीत, द्वितीय दल के आलोचकों का कथन है कि "पृथ्वीराज-रासो" चन्द द्वारा लिखा गया है और चन्द पृथ्वीराज का समकालीन है। इस द्वितीय दल का नेतृत्व पंडित मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या ने किया है। ओझाजी ने जितना अथक परिश्रम इसे अप्रामाणिक सिद्ध करने के लिए किया है, उतना ही पंड्याजी ने इसे प्रामाणिक सिद्ध करने के लिए। इसीलिए उन्हें भटायन् और अनन्द संवत् की कल्पना करनी पड़ी है, (यद्यपि यह कल्पना साधार है)* जिसके अनुसार यदि विक्रम-संवत् में ९१ वर्ष जोड़ देते हैं, तो फिर उनके कथनानुसार सारा झगड़ा तय हो जाता है। किन्तु ओझाजी ने इस अनन्द संवत् का मुँह तोड़ उत्तर देते हुए यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि कुछ घटनाओं में तो ९१ वर्ष जोड़ देने से तिथियां इतिहास से मेल खाने लगती हैं, लेकिन साथ ही कुछ घटनायें ऐसी भी हैं, जिनमें यह अनन्द-संवत् ठीक नहीं उतरता।† पंड्याजी की तरह बाबू श्यामसुन्दरदास, मिश्रबन्धु, हरप्रसाद शास्त्री, रमाकान्त त्रिपाठी, अयोध्यासिंह उपाध्याय, करनल टॉड, गार्सीदतासी आदि विद्वान भी इसे चन्द रचित स्वीकार करते हैं। इन सब में बाबू श्यामसुन्दरदास और मिश्रबन्धु के अतिरिक्त और किसी के तर्क में कोई वजन नहीं है, जो पृथक से देखा जा सकता है, शेष सभी ने पंड्याजी का साथ दिया है और हिन्दी साहित्य के इस प्रथम महाकाव्य के प्रति सद्भावना प्रदर्शित की है। हमारी सम्मति

---

* पृथ्वीराज का जन्म-संवत् विषयक यह दोहा—

'एकादस सै पंचदह विक्रम साक अनंद,
तिहि रिपु जयपुर हरन को भए प्रथिराज नरिंद।'

† पृथ्वीराज के जन्म बीसलदेव के सिंहासनारूढ़, पृथ्वीराज का गोद लेना पद्मावती से विवाह, कैमास की लड़ाई आदि की तिथियाँ।

ओझाजी जितना खार खाए बैठे हैं, पंड्याजी उतना ही पक्षपात से काम ले रहे हैं। दोनों ने अपनी अपनी सीमाओं का उल्लंघन कर दिया है। न तो इतनी कड़ी ऐतिहासिक जांच ही रासो को अप्रामाणिक सिद्ध कर सकती है और न अनन्द संवत् का मरहम ही इस घाव की पूर्ति कर सकता है। केवल शब्दों की तोड़ मरोड़ कर देने से ही रासो की प्रामाणिकता सिद्ध नहीं हो सकती। पड्याजी ने अर्थ का अनर्थ कर दिया प्रतीत होता है। प्रश्न उठता है क्या चन्द बरदाई ने इस अनन्द-संवत् को दृष्टि-पथ पर रखकर ही अपने महाकाव्य का प्रणयन किया है? क्या चारण और भाटों में इस अनन्द अथवा भटायन् सम्वत् का प्रचलन रहा है? जब हम इन प्रश्नों पर थोड़ी देर के लिए विचार करते हैं, तो हमें मुंह के बल गिर जाना पड़ता है। निदान यही कहना पड़ता है कि पंड्याजी का तर्क रासो की प्रामाणिकता में सहायता नहीं दे सकता।

'पृथ्वीराज रासो' की भाषा

इन दोनों दलों के तर्कों से निराश होकर हिन्दी के पाठक का भ्रम में पड़ जाना स्वाभाविक ही है। तो फिर रासो की प्रामाणिकता-अप्रामाणिकता का पेचीदा प्रश्न किस प्रकार हल हो? मैं विज्ञ पाठकों का ध्यान रासो की भाषा की ओर आकर्षित कराना चाहूँगा। रासो की भाषा से हमें इसकी प्रामाणिकता सिद्ध करने के लिए बड़ा भारी बल मिलता है। किसी भी प्राचीन ग्रन्थ की भाषा ही निबिड़ अन्धकार में हमारा पथ प्रशस्त कर सकती है। घटनायें ग्रन्थ के बाह्य-स्वरूप का निर्माण करती हैं, उसकी मौलिक आत्मा उसकी भाषा-शैली में ही निहित होती है। अस्तु, ऐसा विचार कर यदि अन्य कवियों की तरह हम चन्द बरदाई की भाषा को देखें, तो इसे तीन भागों में विभाजित कर सकते हैं —

(१) अनुस्वारांत भाषा, जिसमें कुछ ऐसे छन्द हैं जो मानो संस्कृत और प्राकृत शब्दों के आधार पर गढ़े गए हैं और अशुद्ध हैं। यह भाषा प्राकृत अपभ्रंश की सी है।

(२) दूसरे प्रकार की भाषा कवित्त और दोहों की है, जो ...

से रहित और स्वाभाविक प्रतीत होती है। उसमें शब्द के वर्णन भी काव्य पूर्ण हैं।

(३) तीसरे प्रकार की भाषा आधुनिक साँचे में ढली हुई जान पड़ती है और जो आधुनिक खड़ी बोली के अधिक सन्निकट है।

यहां यह ध्यान रखना आवश्यक है कि विद्वानों ने चन्द की भाषा पर जो विचार व्यक्त किए हैं, उनमें मतभेद है। प्रायः सभी ने परिस्थिति का अनुचित लाभ उठाते हुए अपनी अपनी प्रांतीय भाषाओं की ओर ही रासो की भाषा को खींचने का प्रयास किया है और इस प्रकार "पृथ्वीराज रासो" की काव्य धारा जैसे-जैसे भाषा का क्रमिक-विकास होता गया वैसे-वैसे अप्रामाणिकता की गन्दी गलियों में बहती हुई विभिन्न काल-सरोवरों के भरती गई। इस दृष्टि से टेसीटरी, ग्रियर्सन, लन्दन की ऐशियाटिक सोसाइटी डा० उदयनारायण तिवारी, डा० धीरेन्द्र वर्मा, डा० दशरथ शर्मा, मीनाराम रंगा, डा० मोतीलाल मेनारिया, नरोत्तमदास स्वामी, हजारीप्रसाद द्विवेदी आदि के भाषा सम्बन्धी विचार पृथक रूप से पढ़े जा सकते हैं जो स्थानाभाव से यहां नहीं दिये जा रहे हैं। विचार करने से ज्ञात होता कि मूल "पृथ्वीराज रासो" की भाषा हमारे वर्गीकरण के हिसाब से दूसरे प्रकार की है। चन्द ने अपना महाकाव्य इसी भाषा में लिखा था। भाषा की इस त्रिवेणी में तीनों धाराओं का स्पष्ट अवलोकन किया जा सकता है।

पहले प्रकार की भाषा चन्द से पहले की भाषा है, जिससे हमारे महाकवि का प्रभावित होना स्वाभाविक ही है। हिन्दी के विद्यार्थी को यह बताने की आवश्यकता नहीं कि किस प्रकार वैदिक संस्कृत से लौकिक संस्कृत, लौकिक संस्कृत से प्राकृत, प्राकृत से अपभ्रंश और अपभ्रंश से राजस्थानी भाषा का क्रमिक विकास हुआ। राजस्थानी भाषा में कवित्त और दूहों को लेकर उस समय में काफी काव्य-रचना हुई है। कवित्त और दूहे राजस्थानी भाषा के मुख्य छन्द हैं। दूसरे शब्दों में राजस्थानी भाषा कवित्त और दूहों में जिस वीर रूप से ढली है, उतनी और कोई भाषा नहीं। ओज और दर्प से पूर्ण वीरों की काव्योक्तियां इसी वीर-भूमि की

विशेषता हो सकती है। इसीलिये राजस्थानी का अपना एक पृथक अस्तित्व है, चाहे यह अस्तित्व आज परिस्थिति की कठोरता के नीचे थोड़े दिनों तक विश्राम भले ही करले, किन्तु समय आने पर इसका अभूतपूर्व विकास अवश्य ही होगा। चन्द की भाषा में हम राजस्थानी भाषा का गुण पाते हैं और यही सबसे बड़ा प्रमाण है कि रासो की रचना राजस्थानी साहित्य के प्रथम ग्रन्थ के रूप में हुई। अतएव राजस्थानी भाषा का जब से सूत्रपात हुआ, तभी से आलोच्य रासो की रचना हुई, यही मानना न्याय संगत है। तिथि-निर्धारण का कार्य अवश्य दुष्कर है, पर इतना तो हम अवश्य ही कह सकते हैं कि पृथ्वीराज का शासन-काल ही इस महाकाव्य की रचना की तिथि होना चाहिए।

'पृथ्वीराज रासो' में जो तीसरे प्रकार की भाषा दिखलाई देती है, वह स्पष्ट बाद में जोड़ी गई है। क्या इससे खड़ी बोली के प्रयोग और उसके अस्तित्व के विषय में हमें कुछ भी उपलब्ध नहीं होता? रासो का मूल रूप इतना विशालकाय न था, परन्तु जैसे-जैसे प्रतिलिपियां होती गईं, वैसे-वैसे स्थानीय रंग चढ़ते गए, स्थानीय भाषा का समावेश होता रहा और लोग चन्द के नाम का दुरुपयोग भी करने लगे। रासो इसीलिए एक युग भर की रचना हो गई। २४०० पृष्ठों और ६९ समयों का यह भीमकाय स्वरूप बाद में अंश जोड़ने के कारण ही हुआ है इसीलिए रासो में न केवल पृथ्वीराज का जीवन-चरित है, अपितु उस समय के सभी राजाओं का विस्तृत वर्णन किया गया है। कर्नल टॉड ने इसीलिए 'तत्कालीन विश्व-इतिहास' (The Universal History of the Period) कहा है। बाबू श्यामसुन्दरदासजी और हजारीप्रसाद द्विवेदी ने भी रासो में कुछ अंश प्रक्षिप्त और बाद में जोड़ा हुआ बताया है। यह "कुछ अंश" इसी प्रकार की भाषा से जोड़ा गया है। फिर भी जैसा कि मिश्र बन्धुओं का कथन है—"पृथ्वीराज-रासो की यदि कोई छन्द को लिखता तो वह इतना बड़ा ग्रंथ, जिससे इसकी बड़ी कदापि हो सकती थी, अथवा रचा न गया था पृथ्वीराज के दरबारी,

के नाम से क्यों लिखता.... " हमारे इस कथन को और भी अधिक बल प्रदान करता है। ऐसी अवस्था में रासो को प्रामाणिक मानना ही युक्ति संगत है।

सब मिला कर प्रामाणिकता-अप्रामाणिकता में रुचि रखने वाले पाठकों को ये निम्न बातें ध्यान में रखनी चाहिए:—

(१) काव्य इतिहास नहीं है और न इतिहास काव्य ही।

(२) अनन्द-सम्वत् प्रामाणिकता का एक निश्चल अनुसन्धान है।

(३) साहित्य में डंडावाद से ही काम नहीं चलता, श्रद्धावाद का होना भी परमावश्यक है।

(४) जीवनी के अभाव में किसी कवि की कृति ही उसका श्रेष्ठ आधार है।

(५) रासो की भाषा ही उसकी प्रामाणिकता की आधार-शिला है।

(६) रासो में बहुत से अंश भिन्न भिन्न समयों में जोड़े गए हैं।

(७) भिन्न भिन्न समयों में जोड़ने पर भी किसी ने स्वरचित न कह कर इसे चन्द रचित ही कहा है।

(८) रासो पर अपभ्रंश भाषा का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक ही है।

(९) रासो में देशकाल का अच्छा परिचय प्राप्त होता है।

(१०) रासो हिन्दी साहित्य का प्राचीनतम आदि महाकाव्य है।

(११) रासो का रचना-काल पृथ्वीराज के शासन-काल का ही समय था। निश्चित तिथि के लिए शोध आवश्यक है।

(१२) ग्रंथ प्रामाणिक है।

(१३) क्या शब्दों के तत्सम रूपों को देख कर खड़ी बोली के प्रयोग और उसके अस्तित्व के सम्बन्ध में हमें कुछ भी ज्ञात नहीं होता है?

अन्त में यह कहना भी आवश्यक है कि 'पृथ्वीराज-रासो' के विषय में प्रामाणिकता-अप्रामाणिकता का रोग बहुत पुराना है और इस रोग की जड़ है—क्या वास्तव में चन्द पृथ्वीराज का समकालीन था ? इस शंका का समाधान हो जाने पर अन्य अवान्तर प्रश्न आप ही आप सुलझ जाते हैं। कहने का तात्पर्य यह कि चन्द को पृथ्वीराज का समकालीन मान लेने पर अन्य छोटे-मोटे प्रश्नों में उतना वजन नहीं रह जाता जितना कि इन प्रश्नों का उस मूल प्रश्न के साथ होने से रहता है। 'पृथ्वीराज-रासो' एक प्रामाणिक ग्रन्थ है। वह हिन्दी साहित्य का प्रथम महाकाव्य है। उसका रचयिता चन्द बरदाई है, जो पृथ्वीराज का समकालीन है। हिन्दी संसार को हठधर्मी छोड़ कर इस सत्य को स्वीकार कर लेना चाहिए और जंजाल में न पड़ कर एक निश्चयात्मक उत्तर के पक्ष में हो जाना चाहिए। कुछ कारण ऐसे अवश्य हैं, जो हमारे मार्ग में कुछ अवरोध उत्पन्न अवश्य करते हैं, लेकिन इन कारणों के रहते हुए भी उसके मूल रूप पर कोई बट्टा नहीं लगता। 'पृथ्वीराज रासो' की आज जितनी भी प्रतियां हमें उपलब्ध होती हैं, वे आत्मा, रूप और शैली की दृष्टि से इतनी भिन्न भिन्न हैं कि कोई भी उसे पृथ्वीराज का समकालीन नहीं कह सकता। साथ ही यह भी सत्य है कि मूल रूप को हृदयंगम कर लेने पर कोई भी हमें हमारे परम्परागत प्रौढ़ विश्वास और धारणा से विचलित भी नहीं कर सकता और न होना ही चाहिए। आशा ही नहीं, पूर्ण विश्वास है, हिन्दी के विद्वान एक बार पुन. नये सिरे से इस समस्या पर विचार कर प्रक्षेपों से स्फीत और विकृत हुए अंशों को तराश कर श्रद्धा और विश्वास के साथ चन्द की भाषा-शैली को दृष्टि-पथ पर रखते हुए एक प्रामाणिक संस्करण प्रस्तुत करेंगे और अन्धकार में भूले हुए राहगीरों को प्रकाश में लाकर राह दिखायेंगे तथा साथ ही हमारे इस निष्कर्ष का साथ देंगे कि "पृथ्वीराज-रासो" अप्रामाणिक न होकर प्रामाणिक है और प्रामाणिक ही रहेगा।

प्रकाशित 'रासो' की पुष्पिका में 'पृथ्वीराज रासके' शब्द आता है जो 'पृथ्वीराज रासो' का बोधक है। इसके आधार पर आचार्य चन्द्रबली पाण्डेय का कहना है कि 'रासो' का संस्कृत रूप 'रासक' है, जिसकी गणना उपरूपक के अठारह भेदों में की जाती है। अपनी मान्यता के समर्थन में उन्होंने यह प्रमाण उपस्थित किया है कि जिस तरह नाटक का आरम्भ नट-नटी के वार्त्तालाप से होता है, उसी तरह 'पृथ्वीराज रासो' का भी गठन कवि चन्द और उसकी भार्या गौरी के प्रश्नोत्तर से सम्बद्ध है। यह तर्क तभी समीचीन कहा जा सकता है जब अन्यान्य 'रासो' ग्रन्थों में भी हम इसी प्रकार के नाटकीय प्रारम्भ और विकास का रहस्योद्घाटन करें।

तर्क की कसौटी पर

'रासो' की उत्पत्ति और उसका विकास

श्री बैजनाथ प्रसाद खेतान एम० ए०

'खुमान रासो', 'बीसलदेव रासो' आदि ग्रन्थों के अनुशीलन से यह धारणा निराधार जान पड़ती है, अतएव पाण्डेयजी का मत समीक्षा की कसौटी पर अप्रामाणित सिद्ध होता है।

पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने 'रासो' की व्युत्पत्ति, तो 'रासक' से मानी है, पर इसका अर्थ वे 'काव्य' बतलाते हैं, न कि उपरूपक के अठारह भेदों में से एक। इनके मत से 'रासक' शब्द ब्रज में 'रासो', खड़ी बोली में 'रासा' और अवधी में 'रास' में रूपान्तरित हो गया है, ठीक उसी प्रकार जैसे संस्कृत का 'घोटक' शब्द ब्रज में 'घोड़ो' खड़ी बोली में 'घोड़ा' और अवधी में 'घोड़' हो जाता है। भाषा विज्ञान की तुलनात्मक प्रक्रिया से प्रस्तुत मत की सत्यता का भ्रम उत्पन्न हो सकता है, परन्तु वस्तु स्थिति के

सम्यक अध्ययन से यह निष्कर्ष तर्क-शून्य दीख पड़ेगा, ऐसा हम विश्वास के साथ कह सकते हैं।

'रासो' की व्युत्पत्ति को लेकर विद्वानों में काफी ऊहापोह हुआ है, और सबों ने अपने अपने ढंग से अटकल बाजियां की हैं। गार्सा-द-तासी इसका सम्बन्ध 'राजसूय' से बतलाते हैं, शुक्लजी ने इसकी निष्पत्ति 'रसायण' से मानी है। डा० उदयनारायण तिवारी का कहना है कि यह शब्द 'रास' का वंशज है। उन्होंने अपने समर्थन में यह दलील दी है कि "बीसलदेव रासो" में कई स्थलों पर 'रास' शब्द आया है, तदनुसार ऐसा मानना अदूरदर्शिता या प्रमाद का परिचायक नहीं। अगर किसी दूसरे 'रासो' ग्रंथ में आपको 'रासो' से मिलता जुलता कोई अन्य शब्द मिल जाता, तो शायद आप इसकी उत्पत्ति उसी से मान लेते। अनुसंधायकों को इस तरह की निराधार कल्पना से काम नहीं लेना चाहिए।

एक दूसरे महाशय ने इसी मत का समर्थन भिन्न ढंग से किया है। उनका कहना है कि जैन-साहित्य में 'रास-छन्द' का प्रयोग हुआ है और चरित-ग्रंथों को 'रासा' कहा गया है, इसलिए 'रासो' की व्युत्पत्ति 'रास' से मानी जा सकती है। किसी किसी विद्वान् ने 'रासो' का सम्बन्ध 'रहस्य' से बतलाया है, पर इसके पीछे कोई युक्ति संगत तर्क नहीं। इसी तरह ऐसे लोग हैं जो 'रासो' को 'राजस्य' या 'राजयश' का उत्तराधिकारी समझते हैं।

पर हमारे विचार से 'रासो' की व्युत्पत्ति के लिए दूर जाने की कोई भी आवश्यकता नहीं—'रासो' की व्युत्पत्ति 'रासो' से ही हुई है। प्रत्येक राजस्थानी इसके अर्थ से परिचित है, फिर भी आश्चर्य होता है कि गौरीशंकर हीराचन्द ओझा, दशरथ शर्मा, अगरचन्द नाहटा और मोतीलाल मेनारिया जैसे राजस्थानी साहित्य के चूड़ान्त विद्वानों ने इसकी ओर क्यों नहीं संकेत किया! हम अपने घरों में प्रायः सुना करते हैं—

'तू मेरो कोई पी के रहसी। कूँ 'रासो' मचावऽऽहऽतणे कई बार कह दियो, कि तू उसऽ मत बोला कर पर माणइ कोणी।'

यहां 'रासो' का अर्थ 'ऊधम' है जिस शब्द का प्रयोग वैसे ही प्रसंग में बहुधा किया जाता है, जहां हम किसी ऐसे व्यक्ति को डांट बता रहे हैं जिससे प्रेम, स्नेह या ममता का सम्बन्ध है। प्रेमी जनों के आपसी झगड़ों के लिए ही 'रासो' शब्द का व्यवहार होता है।

इस दृष्टि से अगर हम चारण-काल के साहित्य का मूल्यांकन करें, तो 'रासो' की अपेक्षा कोई दूसरा उपयुक्त शब्द उसकी चेतना की अभिव्यक्ति के लिए मिलना सहज सम्भव नहीं। उसमें जहां-जहां युद्ध है, वहां-वहां किसी राजकुमारी का प्रेम ही इसका प्रमुख कारण है। उसका आदि शृंगार में है, अन्त शृंगार में है और बीच में वीर रस सागर की उत्ताल तरंगों की तरह हिलोरें ले रहा है। 'रासो' शब्द इस चेतना के प्रत्येक स्पन्दन को सजीव रखने में पूर्ण-रूपेण समर्थ है, लेकिन दुःख तो इस बात का है कि हम उसके वास्तविक स्वरूप को पहचानते नहीं अपने देश में ही वह परदेशी हो गया है।

"साहित्य वस्तुतः मानवता की भाग्य-लिपि है। साहित्य निर्माण में इस दायित्व का साक्षात्कार साहित्यकार की अनुभूति का सब से अनिवार्य तकाज़ा होता है। मानवता के सामूहिक अभावों का स्पर्श ही भावना को शब्दों का रूप देता है। मनुष्य का मनुष्य के रूप में मूल्यांकन आज के साहित्य की भी सबसे प्रथम आवश्यकता है। इसका अभिप्राय यह नहीं है कि साहित्यकार कोई 'देहीमेड' धर्म पेश करता रहे—यह तो साहित्य का उद्देश्य नहीं है। किन्तु साहित्यकार से यह आशा अवश्य की जावेगी कि वह हमारी भावना के सामने ऐसा संसार अवश्य रखे जहां हमें हमारे जीवन-धर्म का सम्भाव्य चयन मिल सके। ऐसे प्रयत्नों के उदाहरण हमारे देश में काफी सम्पन्न हैं, अमेरिका के हाथने या यूरोप के गोर्कीवादियों के स्मरण की आवश्यकता विशेष नहीं है। रवीन्द्रनाथ और शरत्चन्द्र ने अपने समय के सामाजिक जीवन और मानवीय प्रकृति के आधार भूत सत्यों का बड़ा सुन्दर सामंजस्य किया है। तुलसी के काव्यों में और विशेष कर उनके 'राम चरित मानस' में ऐसे निरूपण का एक दूसरा ही रूप ही मिलता है—उन्होंने अतीत की भूमि के भीतर अपने समय के संस्कारों को अनुप्राणित किया है।" —कुमार योगी, एम० ए०

नेमिचन्द्र जैन 'भावुक'

श्री रामधारीसिंह 'दिनकर' की काव्य साधना

[एक सरसरी दृष्टि में]

मनुष्य समाज की इकाई है और समाज राष्ट्र का आधार! मनुष्य की सृजनात्मक कला (Creative Art) साहित्य है और साहित्य ही समाज की चेतना है। समाज और देश के उतार, चढ़ाव और बहाव, उसके उत्थान और पतन, संघर्ष और शांति, सुख और दुख के, सगने साहित्य वीणा के तारों पर झंकृत होते हैं। साहित्य-सरिता का स्रोत जीवन की यथार्थता में घुलमिल कर समाज का सत्य प्रस्तुत करता है, राष्ट्र की विविध समस्याओं पर यह "टार्च लाइट" की तरह रोशनी फेंकता है। समाज की सड़ी गली दानवता के प्रति, देश में होने वाले शोषण के विरुद्ध वह अपनी कलम का प्रयोग एक मजबूत हथियार की तरह करता है। उनकी कला ज़िंदगी के स्वरों का मरगम बन जाती है। ऐसे ही मानवता के कवि जनकवि होते हैं। वे ही जनकला की अजेय और अमिट परंपरा को मशाल बनाकर उसके उजाले में अपने युग का मार्ग प्रशस्त करते हैं। श्री० रामधारीसिंह "दिनकर" इसी महान् परंपरा के गायक हैं। वे इस बीसवीं शताब्दि की हिंदी की गतिशील धारा के प्रतीक बनगए हैं। उन्होंने अपने साहित्य को समाज और राष्ट्र के विकास में एक महान शक्ति के रूप में योग दिया है। उन्हीं के शब्दों में—'जीवन से अन्योन्य संबंध होने के कारण साहित्य को जाने या अनजाने अपने सौंदर्य के कोष में जीवन के उद्देश्य को छिपाकर चलना पड़ता है। मिट्टी से कल्पना का संबंध टूट नहीं सकता। काव्य की सबसे बड़ी मर्यादा इसमें है कि वह राष्ट्र का आधिभौतिक उन्नति और विकास तथा उसके स्थूल इतिहास के ऊपर कोमल और पवित्र आकाश बनकर फैलता रहे—किसी दूरस्थ शंख की भांति ध्वनित होकर हमारी वृत्तियों को गगनोन्मुख किये रहे, हमारी बौद्धिक आनन्ददायिनी शक्ति को सोने न दे तथा

भावों को जागरूक तथा चैतन्य रखे जो समकालीन सामाजिक आदर्शों के अंग हैं।'*

श्री 'दिनकर' की कृतियाँ

श्री 'दिनकर' का काव्य एकांगी न होकर सर्वांगीण है। इसलिए लोकप्रिय भी है। श्री 'दिनकर' साहित्य को नई चेतना का माध्यम मानते हैं, फिर भी उसे किसी घेरे के दायरे में जकड़े रखना स्वीकार नहीं करते। इससे उनकी दृष्टि में स्वाधीनता की चमक लुप्त हो जायेगी। उन्हीं के शब्दों में— "एकांगी होकर साहित्य प्रगतिशील भले ही कहला ले, लेकिन समग्रता के बिना वह दीर्घायु नहीं हो सकता।"

× × × कवि जैसे संवेदनशील प्राणी को न तो गुलाब पर चित्त को केन्द्रित करना चाहिए और न ट्राम पर। उसकी कला की सबसे बड़ी विजय यह है कि अपनी शैली से वह यह दिखला दे कि अपने युग में वह पूर्ण रूप से जीवित था।

× × × दिनभर सूर्य के ताप में जलने वाले पहाड़ के हृदय में चाँदनी की शीतलता को पाकर, कभी-कभी बाँसुरी का-सा कोई स्वर गूँजने लगता है, या पत्थर की छाती को फोड़कर किसी झरने [illegible] की व्याकुलता का नाद है।

× × × प्रगति का मैं अर्थ ही समझता हूँ, वह [illegible] ? [illegible] ? [illegible] युग [illegible] नहीं, [illegible] है।

* [illegible] श्री 'दिनकर', पृष्ठ [illegible]
[illegible] श्री 'दिनकर' [illegible] पृष्ठ [illegible]

× × × साहित्य को अत्यंत संकीर्ण अर्थ में प्रगतिवादी कहकर लोग उसे राजनीति के कारण वाद्य बना देना चाहते हैं, वे इस बात को जाते हैं कि रुपये और साहित्य में अविछिन्न संबंध नहीं है।"...... ....,
देनकर की कलम इसलिए ही तो सभी विषयों पर चल पड़ी है। सभी में वह वि और गतिमान है। उसमें शक्ति है, गति है, वह प्राणमान है। सार में उनका साहित्य 'रोटी और रोजी' की लड़ाई का अगुवा भी है और सिक शांति, बौद्धिक स्वाधीनता और चिंतन में गुलाब के फूल की ध का भी . ...। वे क्रांतिकारी भी हैं और रसिक भी। यह परम्पर ीधी बात नहीं बल्कि जीवन का एक सत्य है। श्री दिनकर की इस परंपरा विरोधी भी तो 'रोटी' के साथ 'सेक्स' के उभार से बच नहीं पाये हैं। दिनकर के इस कथन की गंभीरता को महत्व देना ही होगा कि "काव्य का म्राज्य निर्बंध है और उसमें किसी के प्रवेश का निषेध नहीं।" उन्होंने भी तो स्वीकार किया है कि उसमें भी मर्यादा है और एक विशिष्ट परा भी। श्री दिनकर की इन कृतियों से स्पष्ट हो जाता है कि वे बहु-ुखीप्रतिभाशील हैं--

बारदोली-विजय (१६२६) प्रण भंग (१६३०) रेणुका (१६३५) हुंकार ६३६) द्वन्द्वगीत (१६४०) रसवन्ती (१६४०) कुरुक्षेत्र (१६४६) मिट्टी की र (१६४६) सामधेनी (१६४७) धूप छाँह (१६४७) बापू (१६४७) चित्तौर ा साका (१६४८) श्री कृष्ण अभिनन्दन ग्रन्थ, श्री अनुग्रह अभिनन्दन ग्रन्थ १६४८) मिर्च का मजा (१६५१) धूप और धुआँ (१६५१) इतिहास के आँसू १६५१) अर्धनारीश्वर (१६५२) रश्मिरथी (१६५२)।

इनमें 'मिट्टी की ओर' और 'अर्धनारीश्वर' आलोचना ग्रन्थ हैं।

भाषा और शैली......

श्री दिनकर की भाषा खड़ी बोली होते हुए भी विशुद्ध खड़ी बोली नहीं ही जा सकती है। कहीं २ वाक्यों में अपूर्ण क्रियाओं का दौर भी पाया ाता है। इनकी भाषा पर उर्दू शैली का प्रभाव है। उर्दू के प्रचलित शब्दों ा जो यथेष्ट संयोग मिलता है, उसने उनकी शैली को हिन्दी में बहुत कम

पाई जाने वाली वाक्य-रचना की सबलता ही प्रदान की है। इस वाक्य-रचना का अत्यन्त परिष्कृत उदाहरण अनेकों स्थानों पर मिलता है। श्री दिनकर के उर्दू-प्रयोग खटकने वाले नहीं हैं, यह उनके साहित्य की अधिक सबल और रोचक विशेषता ही है। उनका काव्य ओज, प्रसाद और माधुर्य की धाराओं की त्रिवेणी है। भावों की प्रबल शक्ति से भाषा में भी जबरदस्त शक्ति समाविष्ट हो गई है। भावों का यह पंछी नीलगगन में स्वच्छन्दतापूर्वक उड़ा जा रहा है, कल्पना की यह नौका लहरों में गोते लगाती जा रही है। जहाँ एक ओर सरलता का प्रतीक 'प्रसाद' गुण कविता के भाव को समझाने में सफल हुआ है, वहाँ दूसरी ओर 'ओज' बिजली और तूफान उत्पन्न कर देता है। इनकी अपनी विशेष शैली है, जो हृदय पर छाप लगा देती है। वह गम्भीर है तो सुबोध भी है। उसमें वेगवती नदी का सा प्रवाह है जिसमें कल कल का सुरीला लय भी है। केवल काव्य में ही नहीं गद्य में भी उसी का साम्राज्य है। उदाहरण के तौर पर—"बहुत दिनों की बात है। एक बार भूकम्प और अग्निकांड दोनों का धरती पर साथ ही आक्रमण हुआ। महल गिर गये, झोंपड़ियाँ जल कर खाक हो गईं। कहीं नई जमीन पानी में से निकल आई; कहीं बसे-बसाये नगर समुद्र में समा गये। पशु-पक्षियों, कीड़े-मकोड़ों के साथ आदमी भी बहुत बर्बाद हुए। कितने ही महावृक्षों का पता नहीं रहा और कितने ही पहाड़ों की छाती फट गई। जिस दिन यह विनाश हुआ, उस दिन सभी लोग चुप थे, सभी लोग खामोश थे। चिड़ियाँ ी थीं, पत्ते नहीं डोलते थे और दूब की फुनगी पर से शबनम भी
।

गर, दूसरे ही दिन, भोर से जब लोग जैसे-तैसे यामिनी के पार हुए, म चमकने लगी, पत्ते डोलने लगे और वीणा बजने लगी।"*—यह एक ुच्छेद ही काफी है। तब काव्य-सरिता के प्रवाह का तो कहना ही क्या?

भारत में राष्ट्रीय चेतना का श्रेय राष्ट्रपिता महात्मा गांधी को है। उनके असहयोग आन्दोलन के 'माईक्रोन' से जनसाधारण के साथ कलाकार

---

*'अर्धनारीश्वर' के प्रथम निबन्ध 'खड्ग और वीणा' में से उद्धृत—

भी प्रभावित हुए। 'दिनकर' भी इसी राष्ट्रीय और देशभक्ति की लहर में बह गए। पददलित पराधीन भारत की दुर्दशा देख कर कवि का हृदय रो उठा। भूखे और नंगे हिन्दुस्थान की तस्वीर ने उनके हृदय में हलचल पैदा कर दी। आज के वैभवहीन भारत को देख कर कवि के नेत्र-पटल के सम्मुख अतीत की गौरवमय स्मृतियां चलचित्र की तरह एक एक कर सामने आने लगीं। यही सब कुछ 'दिनकर' की वाणी में गूँज पड़ा। भारत का कृषक और श्रमिक उनके काव्य का आधार बन गया। फुटपाथों पर जिन्दगी बसर करने वाले लाखों बेघरबार प्राणी उनके काव्य की सितार का स्वर बन गए। दुखी और जर्जर मानवता कराह उठी, भूखे बच्चे बिलख उठे, माँ और बहिनें रो पड़ीं,— 'दिनकर' का स्वर तेज बना, कलम तलवार और हृदय ढाल बनी। जनता जनार्दन के अपने गायक ने अपनी स्वर लहरों से राष्ट्रीय चेतना और स्वाधीनता की लड़ाई को शक्ति दी, गति दी और प्रेरणा दी। इसीलिए ही 'दिनकर' हमारी भाषा, हमारे साहित्य, हमारे समाज और हमारे राष्ट्र के गर्व बन गए।

यथार्थता और मार्मिकता की पराकाष्ठा......

भारत की हीनावस्था पर कवि का हृदय कराह उठता है। वह उस हिमालय से प्रश्न करता है, जिसकी छाया और आँचल में उसका प्यारा स्वदेश पला और पनपा था--

> 'कितनी मणियाँ लुट गईं?
> कितना मेरा वैभव अशेष?
> तू ध्यान मग्न ही रहा इधर,
> वीरान हुआ प्यारा स्वदेश;
> कितनी द्रुपदा के बाल खुले
> कितनी कलियों का अन्त हुआ,
> कह हृदय खोल चित्तौड़ यहाँ
> कितने दिन ज्वाल बसन्त हुआ' . (हुंकार)

'दिनकर' कितना यथार्थ, कितना सुन्दर, कितना प्रभावशाली ढंग से इतना विचारोत्तेजक चित्र प्रस्तुत करते हैं। देखिए—

> 'श्वानों को मिलता दूध वस्त्र, भूखे बालक अकुलाते हैं
> माँ की हड्डी से चिपक, ठिठुर जाड़ों की रात बिताते हैं
> युवती की लज्जा वसन बेच जब ब्याज चुकाये जाते हैं
> मालिक जब तेल-फुलेलों पर पानी सा द्रव्य बहाते हैं'

'हा हा हा' कविता में हृदय पिघलाने वाला एक और चित्र अंकित किया गया है—

> 'कब्र कब्र' में अबुध बालकों की भूखी हड्डी रोती है।
> 'दूध दूध' की कदम कदम पर सारी रात सदा होती है॥
> 'दूध दूध' ओ वत्स मन्दिरों के बहरे पाषाण यहाँ हैं ?
> 'दूध दूध' तारे बोलो इन बच्चों के भगवान् कहाँ हैं ?

चाहे भगवान् बहरे हों, तारे न बोलें, पर मानवता का प्रतिनिधि अन्याय के विरुद्ध विद्रोह का झण्डा गाड़ ही देता है—

> 'हटो व्योम के मेघ पन्थ से स्वर्ग लूटने हम आते हैं।
> 'दूध दूध' ओ वत्स तुम्हारा दूध खोजने हम जाते हैं॥

धरती के देवता अन्नदाता में आज क्या बीत रही है, यह 'दिनकर' की वाणी में सुनिए—

> 'जेठ हो कि पूस हमारे कृषकों को आराम नहीं है।
> छूटे बैल के संग कभी जीवन में ऐसा याम नहीं है॥
> मुख में जीभ शक्ति भुज में जीवन में सुख का नाम नहीं है।
> वसन कहाँ, सूखी रोटी भी मिलती दोनों शाम नहीं है॥

'दिनकर' की काव्यधारा में स्पष्ट रूप से पूँजीवाद के अभिशाप दिखाई दे रहे हैं। उस में पूँजीवाद के साथ ही सामन्तवाद पर करारी चोट है। इनकी समाप्ति के बिना कृषकों, श्रमिकों और साधारण जनता को चैन कहाँ ? स्पष्ट शब्दों में यह नव जागरण की ओर इङ्गित करता है—

'कह दे शंकर से आज करें,
वे प्रलय नृत्य फिर एक बार,
सारे भारत में गूँज उठे
हर हर बम का फिर महोचार'

जब अन्याय, अत्याचार और शोषण की पराकाष्ठा हो जाती है तब प्रलय स्वाभाविक ही होता है। दबी जनता की तब स्वयं ही विद्रोह की दबी भावना भी ज्वालामुखी बन फूट निकलती है। 'दिनकर' की कविता सभी तो सभी दृष्टियों ('एंगिल') को स्पष्ट करने में सफल और सशक्त सिद्ध हुई है।

श्री 'दिनकर' की राष्ट्रीय परम्परा......

'दिनकर' ने अगस्त-क्रान्ति के आन्दोलन में युवकों का आह्वान किया कि वे स्वतन्त्रता-संग्राम के अग्रिम पंक्ति के मोर्चे को संभाल लें—

'थामो इसे, शपथ लो, बलि का कोई क्रम न रुकेगा।
चाहे जो हो जाय, मगर, यह झण्डा नहीं झुकेगा॥'

भारत की स्वतन्त्रता के लिए आजाद हिन्द की फौजों ने जो कुछ भी किया, वह इतिहास की एक अमिट कहानी बन गई है। कवि उस स्फूर्तिदायक अमर भावना को सफलता के साथ अंकित करते हुए कहता है—

'न रुकना है तुझे, झण्डा उड़ा केवल पहाड़ों पर, विजय पानी है।
तुझको चाँद-सूरज पर, सितारों पर
वधू रहती है जहाँ नरवीर की
तलवार वालों की
जमी वह इस जग से आसमानों के पार है साथी—————

निराशा में आत्मविश्वास, साहस और दृढ़ संकल्प के लिए कवि कितना प्रेरणादायक सन्देश देता है, यह तो कमाल ही है—

'वह प्रदीप जो दीख रहा है झिलमिल, दूर नहीं है;
थक कर बैठ गए क्या भाई, मंजिल दूर नहीं है।

यह रुद्र देश की चली अरे, माँ की आँखों का नूर चला,
दौड़ो, दौड़ो तज हमें हमारा बापू हमसे दूर चला।"
"वह देव फटी किसकी छाती ? पहचान, कौन निश्चेत गिरा ?
किसकी किस्मत में आग लगी ? किसका उगता सौभाग्य फिरा ?
यह लाश मनुज की नहीं, मनुजता के सौभाग्य-विधाता की,
बापू की अरथी नहीं, चली अरथी यह भारत माता की।"

श्री 'दिनकर' के काव्य में रसिकता और सरसता

श्री 'दिनकर' की कलम जहां आग उगलती है, वहां शीतलता और सरसता का स्रोत भी बहाती है। 'रसवंती' की भूमिका में जैसे कवि ने कहा भी है—"रसवंती को मैं कुरूप पर्वत की बांसुरी' कहना चाहता था, लेकिन है यह 'दाह की कोयल' और धूप में पड़ने वाली एक बूंद शबनम।" ...."साहित्य के विविध ऐश्वर्य (सत्य, शिव और सुन्दर) में से किसी एक को तोड़कर अलग नहीं किया जा सकता और न किसी की पक्षपात-पूर्ण एकांगी उपासना ही की जा सकती है। जहां समन्वय का साम्राज्य है, वहां पक्षपात या विभाजन नहीं चल सकता और जहां इस प्राकृतिक नियम का विरोध होगा वहीं कला छन-विछन होकर गिर पड़ेगी और साहित्य मुमूर्षु हो जायगा।"

बालिका जब वधू बनती है, तब श्री 'दिनकर' की कलम भी शृंगार के भावों की रागिनियों में डूब जाती है.—

"माथे में सिंदूर पर छोटी दो बिन्दी चमचम सी,
पपनी पर आंसू की बूंदें मोती-सी, सबनम-सी
लदी हुई कलियों से मादक टहनी एक नरम सी,
यौवन की विनती-सी भोली, गुमसुम खड़ी शरम-सी

'वधू का सुहाग अमर रहे', इसी कामना से ओतप्रोत ये पंक्तियाँ कितनी सुन्दर हैं ....

'मंगलमय हो पन्थ सुहागिन, यह मेरा वरदान;
हर सिंगार की टहनी से फूले तेरे अरमान।

छाया करती रहे सदा तुमको सुहाग की छाँह,
सुख-दुख में ग्रीवा के नीचे हो प्रियतम की बाँह।'

स्मृतियाँ कितनी मधुर होती हैं, वे हमारे हृदय के तारों में वीणा की झंकारों की स्वरलहरियाँ उँडेल देती हैं, अतीत सजीव बन कर हमारे हृदय को झकझोर डालता है, श्री 'दिनकर' की यही अमर भावना इन पंक्तियों में दिग्दर्शित है—

'याद है, तुम तो सुधा की धार,
याद है, तुम चाँदनी सुकुमार।
याद है, तुम तो हृदय की पीर,
याद है, तुम स्वप्न की तसवीर।
याद है, तुम तो कमल की नाल,
मंजरी के पासवाली नम कोंपल लाल।'

नारी और प्रकृति कवि के लिए आदि युग से प्रेरणा बनी रही है। श्री 'दिनकर' का नारी के प्रति दृष्टिकोण स्पष्ट है—

'न छू सकते जिसको हम देवि ! कल्पना वह तुम अगुण, अमेय;
भावना अन्तर की वह गूढ़, रही जो युग-युग अकथ, अजेय।
तैरती स्वप्नों में दिन-रात मोहिनी छवि-सी तुम अम्लान,
कि जिसके पीछे-पीछे नारि ! रहे फिर मेरे भिक्षुक गान।

मनभावक शृंगार का रसास्वादन इन पंक्तियों मे और किया जा सकता है—

'वर्षा गई, शरद् आया, जल घटा, पुलिन ऊपर आये,
बसे बबूलों पर खग दल, फुनगी पर पीत कुसुम छाये।
आज चाँदनी देख न जाने मैंने क्यों ऐसा गाया—
अब तो हँसो मानिनी मेरी, वर्षा गई, शरत आया'

एक स्थान पर अन्यत्र—

'रानी, आधी रात गई, घर है बन्द, दीप जलता है;
ऐसे समय रूठना प्यारी का, प्रिय के मन खलता है।'

प्रेयसी का सौदा भी कितना कठिन है—

> 'सौदा कितना कठिन सुहागिन जो तुम से गठबन्धन करे;
> अंचल पकड़ रहे वह तेरा, संग संग वन-वन डोले।'

कवि इस तरह से देश के सुहाने सपनों के साथ साथ भी नहीं झुक सकता। उसकी वाणी में ऐसा सामंजस्य है जो सही रूप में प्रगतिशील परम्परा की रक्षा करता है। हिन्दी के प्रसिद्ध उपन्यासकार, कहानीकार और दार्शनिक श्री जैनेन्द्रकुमार ने भी कहा है—"साहित्य में हमारे सम्पूर्ण जीवन की अभिव्यक्ति होनी चाहिए। यह तरह-तरह के सिद्धान्तों और वादों के आरोपण से नहीं हो सकता। इन वादों को उसकी पीठ पर लादने से उसका अकल्याण ही होगा। हम बोझ तो दें, फिर भी पीठ न झुके। यह कैसी बात?"⊛ एक स्थान पर अन्यत्र उनका कहना है—'साहित्य की एक मर्यादा है। सब में अपना-अपना मन है। उस सुख-दुख अनुभव करने वाले मन को बाद दे कर साहित्य का काम चल ही नहीं सकता। इसलिए वह और सब बातों को उस मनुष्य के अन्तस्थ चित्त की तुला पर ही तौल सकता है।'●

'धूप-छाँह' में भी 'दिनकर' का प्रारम्भिक साहित्य है, फिर भी वह गतिशील है। उदाहरण के तौर पर कुछ पंक्तियाँ देखिए—

> 'कलम देश की बड़ी शक्ति है भाव जगाने वाली,
> दिल ही नहीं दिमागों में भी आग लगाने वाली।
> पैदा करती कलम विचारों के जलते अंगारे,
> और प्रज्वलित प्राण देश क्या कभी मरेगा मारे?
> लहू गर्म रखने को रक्खो मन में ज्वलित विचार,
> हिंस्र जीव से बचने को चाहिए, किन्तु तलवार।'

⊛'साहित्य का श्रेय और प्रेय'—पृष्ठ ३६१

●'साहित्य का श्रेय और प्रेय'—पृष्ठ ३६४

(शेष पृष्ठ १६१ पर)

★ श्री राजेश ★

कहानी कला के विकास का इतिहास

'सिर झुका कर नाक रगड़ता हूँ उस अपने बनाने वाले के सामने जिसने हम सब को बनाया और बात की बात में वह कर दिखाया जिसका भेद किसी ने न पाया।' यही प्रारम्भिक रूप था उस सर्व प्रथम हिन्दी मौलिक 'रानी केतकी की कहानी' का जिसे इंशा-अल्लाखाँ ने आज से डेढ़ सौ वर्ष पहले लिखा था। हिन्दी गद्य में यह एक नवीन प्रयोग हो रहा था, जिसमें जटमल ने 'गोरा बादल की कथा', लल्लूलाल ने 'सिंहासन बत्तीसी', 'सदलमिश्र ने 'नासिकेतोपाख्यान' व राजा शिवप्रसाद सितारे हिंन्द ने 'राजा भोज का सपना' आदि कहानियों का निर्माण कर कहानी की परम्परा को उज्ज्वल बनाने में योगदान दिया। पर उपरोक्त सभी प्रारंभिक कहानियाँ मौलिक होते हुए भी सुनिश्चित उद्देश्य व शिल्प-विधान की अपरिपक्वता के के अभाव में केवल निर्जीव, मनोरंजनार्थ कृतियाँ बन कर ही रह गयीं। फिर भी इनके फलस्वरूप कहानी-कला की उत्पत्ति की पृष्ठभूमि के निर्माण कार्य का श्री गणेश हो गया।

संवत् १८६४ ई० में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के साहित्योद्यान में प्रवेश करते ही साहित्य व भाषा रूपी कुसुम सुवासित हो उठे। 'कवि वचन सुधा', 'हरिश्चन्द्र मैगजीन', 'हिन्दी प्रदीप', 'भारत मित्र', 'ब्राह्मण', 'आनन्द कादम्बिनी' आदि विभिन्न-पत्र पत्रिकाओं में भाषा-शैली का विकास तो हो ही रहा था बल्कि साथ २ हिन्दी गद्य के लघु रूपों का प्रादुर्भाव भी हुआ। व्यंग चित्र, निबन्ध, स्फुट चित्र, हास्य चित्र, स्वप्न चित्र आदि की गद्य शैलियाँ प्रचलित हुईं जिनके प्रेरणा सूत्र में हिन्दी कहानी कला के अविर्भाव का संबंध है। इन सभी साधनों से कहानी कला की उत्पत्ति की समस्त

भारतेन्दु युग में ही पनप चुकी थी परन्तु कहानी-कला का रूप अभी तक निर्मित न होने पाया था।

'सरस्वती' की प्रयोगशाला

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के द्वारा संवत् १६०० ई० में 'सरस्वती' रूपी वीणा के बजने से कहानी रूपी झंकार गूँज उठी और लेखकों का ध्यान इधर आकर्षित हुआ। 'सरस्वती' के प्रारंभिक वर्षों (संवत् १६१० ई० तक) को एक प्रकार का प्रयोगात्मक युग ही कहा जा सकता है। उस समय पत्रिका के अधिकांश पृष्ठ शेक्सपीयर के नाटकों के आधार पर निर्मित, संस्कृत व बंगला से अनूदित कहानियों से परिपूर्ण रहते थे। युग के लेखक पथ ढूंढने में निमग्न थे व हर कदम पर नये नये प्रयोग कर रहे थे। 'सरस्वती' में कहानी के रूप में मोटे तौर पर निम्निलिखित प्रयोग हुए:—किशोरीलाल गोस्वामी ने 'इन्दुमति' कहानी लिखी जिस पर शेक्सपीयर के टेम्पेस्ट की इतिवृति की छाया थी। हर्षरचित संस्कृत के 'रत्नावली' नाटक की 'आख्यायिका' को पं० जगन्नाथ त्रिपाठी ने कहानी का रूप दिया। स्वप्न चित्र के रूप में केशव प्रसाद सिंह की 'आपत्तियों का पहाड़', यात्रा वर्णन के माध्यम से 'चन्द्र लोक की यात्रा' व आत्म कहानी के दृष्टिकोण से निर्मित कार्तिक प्रसाद खत्री की 'दामोदर राव की आत्म कहानी' आदि इन प्रयोगों की ही प्रतीक थी।

'इन्दुमती' के बाद श्रीमती बंग महिला की उल्लेखनीय कहानी 'दुलाई वाली' सरस्वती में प्रकाशित हुई। यह प्रथम कहानी थी जिसमें यथार्थवादी ढंग से प्रतिदिन की घटना को भी प्रभावोत्पादक बनाया गया था।

उपरोक्त सभी प्रयोगों व प्रयत्नों से हिन्दी कहानी कला के आरंभ का सूत्रपात हो गया। कहानी के शिल्प-विधान को नया रूप मिला। कथानक-घटना संयोगपूर्ण, चरित्र-काल्पनिक व स्वछन्द, शैली-वर्णनात्मक व समस्या कथन-धार्मिक आदि अनेक विशेषतायें प्रस्फुटित हुईं। कहानी के सीमाक्षेत्र और ध्येय को एक निश्चित रूप मिला।

विकास युग के प्रतीकः प्रसाद व प्रेमचंद

'इन्दु' में जयशंकर प्रसाद की सर्व प्रथम कहानी 'ग्राम' (संवत १६११ ई०) प्रकाशित हुई और उसी समय से हिन्दी कहानी का 'निर्माण युग' प्रारंभ हुआ। गंगाप्रसाद श्रीवास्तव की सर्व प्रथम हास्य रस पूर्ण कहानी 'पिकनिक' इन्दु में व चन्द्रधर शर्मा गुलेरी की भी सर्व प्रथम कहानी 'सुखमय जीवन' भारतमित्र में प्रकाशित हुई। इसी तरह कुछ समय तक देव के आकस्मिक घटनाओं का सहारा लिये कहानियों का क्रम निरंतर चलता रहा परन्तु संवत १६१६ ई० में प्रेमचंद ने 'पंच परमेश्वर' कहानी लिखकर मनोविश्लेषण की नींव डाली व उस विकास क्रम में परिवर्तन उत्पन्न कर दिया।

यह युग हिन्दी कहानी का निर्माण युग था। इसी समय आधुनिक कहानी का प्रारम्भ दो विभिन्न उद्‌गमों से हुआ—प्रथम आदर्शोन्मुख यथार्थवादी परंपरा, जिसके संस्थापक प्रेमचंद थे व द्वितीय भावमूलक परंपरा, जिसके अधिष्ठाता 'प्रसाद' थे। दोनों पृथक कला संस्थाओं के अंतर्गत हिन्दी के अनेकों कहानीकारों ने अपनी बहुमूल्य कला कृतियाँ रखी पर प्रसाद की अपेक्षा प्रेमचंद के साथ अधिक कहानीकार आये। दोनों कलाकार सम्पूर्ण युग के प्रतिनिधि थे अतः उनका विस्तृत अध्ययन ही उस युग की समस्त प्रवृतियों का परिचय है।

जयशंकर 'प्रसाद' भावगत प्रेरणा के कारण प्रेम, सौंदर्य व रहस्य भावना के कहानीकार थे। उनकी कुछ सामाजिक व यथार्थवादी कहानियों को छोड़ कर शेष अधिकांशतः कहानियाँ प्रतीकात्मक व ऐतिहासिक हैं। 'प्रसाद' [illegible] व गहन भावुकता [illegible] ऐतिहासिक कहानियों में कथानक निश्चित होने पर भी उनमें कल्पना रंजित सूक्ष्म रेखायें हैं पर 'प्रसाद' ने उनमें भावों का तारतम्य व एक सूत्रता बनाये रखी है इसीलिए वे अधिक सफल हुई हैं; जैसे—'देवरथ', 'पुरस्कार', 'आकाश दीप' आदि कहानियाँ। चरित्र की दिशा में दृष्टिकोण ऊँच होने के कारण प्रसाद

अनेक विचारधाराओं व प्रवृत्तियों से प्रभावित होना .... किन्तु नहीं होता। इनके प्रभाव व प्रेरणा से हिन्दी कहानी का स्वर्ण-युग खुलता है।

इस युग की कहानियों में दो बड़ी-बड़ी विशेषतायें—प्रथम, मनोविज्ञान सूक्ष्मता और द्वितीय, बौद्धिकता। मनोविज्ञान के दो रूप इन कहानियों में परिलक्षित होते हैं—१. अन्तर्संघर्ष २. यौन वाद (सैक्स)। अन्तर्संघर्ष द्वारा व्यक्ति और समाज की अनेक समस्याओं का विश्लेषण किया जाता है। जैनेन्द्र की 'एक रात' इलाचन्द्र जोशी की 'अभिनेत्री' अज्ञेय की '...' इस प्रकार की प्रतिनिधि कहानियां हैं। नारी और पुरुष के संबंधों व उनके हृदय का स्वस्थ विवेचन अनेक कहानियों में सुन्दरता से किया गया है, जैसे अज्ञेय की 'रोज', जैनेन्द्र की 'पत्नी' भगवतीचरण वर्मा की 'पराजय अथवा मृत्यु' में। इन पर फ्राइड के यौनवाद का प्रभाव स्पष्ट है।

रामवृक्ष बेनीपुरी, विष्णुप्रभाकर, यशपाल जैन, ओंकार शरद, धर्मवीर भारती, प्रभाकर माचवे आदि साहित्यकारों की कहानियाँ भी महत्वपूर्ण बन रही हैं।

मार्क्सवादी विचारधारा का प्रभाव समाजवादी कहानियों में प्रकट हुआ। व्यक्ति का महत्व कम हुआ और समाज का अधिक। व्यक्ति को लेकर ही समाज का चित्रण उपस्थित किया जाता है, जैसे जैनेन्द्र की 'टाई', यशपाल की 'पुलिस की दफा' में। यशपाल, अमृतराय, पहाड़ी, रांगेय राघव इसके प्रतिनिधि कथाकार हैं। उर्दू किशनचंद, अश्काम, महेंद्र आदि भी वास्तव हिंदी में गिने जाते आते हैं।

बौद्धिकता भी मनोविश्लेषण का एक पक्ष है। ये कहानियाँ मस्तिष्क-प्रधान हैं। इनकी शैली में भावना की, पात्रों में भावुकता की और विषय वस्तु में रसमयता मन की कमी है। अमृतराय, रांगेय राघव, मोहनराकेश अनेकों लेखकों की कहानियाँ इसी तरह की हैं। इनमें विचार शैली का समावेश हुआ है।

कहानी के शिल्प-विधान में भी उन्नति हुई। उसके विषय में डा० लक्ष्मीनारायण ने लिखा है, "कथानक अपनी क्रम बद्धता, एक सूत्रता और वर्णनात्मकता से आगे बढ़कर मानसिक सूत्रों, मनोवैज्ञानिक चक्रों, सूक्ष्म घटनाओं और मन उद्वेगों के माध्यम से निर्मित होकर अस्फुट रेखा चित्रों, टुकड़ों और सांकेतिक रूप में कभी कभी इतने व्यापक हो गये हैं कि उनमें जीवन के लम्बे २ मार्ग, जीवन की विस्तृत समस्याएं संगुम्फित हो गयी हैं।"

आधुनिक कहानी का प्रमुख आधार चरित्र है। इसी के चारों ओर कहानी के समस्त उपकरण विद्यमान रहते हैं। कहानी की निर्माण शैली में भी व्यापकता आयी। ऐतिहासिक और आत्मकथात्मक प्रणाली से प्रारम्भ होकर पत्र प्रणाली, कथोपकथन पद्धति, तक विकास हुआ। वातावरण प्रधान, चरित्र-प्रधान, भाव-प्रधान आदि कहानियाँ भी इसी युग की देन हैं।

आधुनिक कहानी पर विदेशी प्रभाव भी स्पष्ट दिखाई दे रहा है। अमेरिका के एलन पो के सिद्धांतों को अपनाती हुई आधुनिकतम कहानी फ्रेंच लेखकों द्वारा नियोजित नाटकीय उपकरण से भी बच नहीं पाई है। कहानी में भी वस्तु, स्थान और काल का नाटकीय संकलन त्रय चरितार्थ किया गया।

आधुनिक कहानी-कला का यह रूप हजारों प्रयोगों के कारण ही बन पाया है। यह बाहरी प्रभाव से प्रभावित होते हुए भी अपनी मौलिकता को अक्षुण रखे हुए है अतः भविष्य में उसका विकास अवश्यम्भावी है, जो किस रूप में प्रकट होगा इसकी सूचना तो आगामी समय ही देगा।

कहानी के शिल्प-विधान में भी उन्नति हुई। उसके विषय-मे डा० लक्ष्मीनारायण ने लिखा है, "कथानक अपनी क्रम बद्धता, एक सूत्रता और वर्णनात्मकता से आगे चढ़कर मानसिक सूत्रों, मनोवैज्ञानिक चक्रों, सूक्ष्म घटनाओं और मन उद्वेगो के माध्यम से निर्मित होकर अस्फुट रेखा चित्रों, टुकड़ों और सांकेतिक रूप में कभी कभी इतने व्यापक हो गये हैं कि उनमें जीवन के लम्बे २ मार्ग, जीवन की विस्तृत समस्याएं संगुम्फित हो गयी हैं।"

आधुनिक कहानी का प्रमुख आधार चरित्र है। इसी के चारों ओर कहानी के समस्त उपकरण विद्यमान रहते हैं। कहानी की निर्माण शैली में भी व्यापकता आयी। ऐतिहासिक और आत्मकथात्मक प्रणाली से प्रारम्भ होकर पत्र प्रणाली, कथोपकथन पद्धति, तक विकास हुआ। वातावरण प्रधान, चरित्र-प्रधान, भाव-प्रधान आदि कहानियाँ भी इसी युग की देन हैं।

आधुनिक कहानी पर विदेशी प्रभाव भी स्पष्ट दिखाई दे रहा है। अमेरिका के ऐलन पो के सिद्धांतों को अपनाती हुई आधुनिकतम कहानी फ्रेंच लेखकों द्वारा नियोजित नाटकीय उपकरण से भी बच नहीं पाई है। कहानी में भी वस्तु, स्थान और काल का नाटकीय संकलन त्रय चरितार्थ किया गया।

आधुनिक कहानी-कला का यह रूप हजारों प्रयोगो के कारण ही बन पाया है। वह बाहरी प्रभाव से प्रभावित होते हुए भी अपनी मौलिकता को अक्षुण्ण रखे हुए है अतः भविष्य में उसका विकास अवश्यम्भावी है, जो किस रूप में प्रकट होगा इसकी सूचना तो आगामी समय ही देगा।

अनेक विचारधाराओं व प्रवृत्तियों से प्रभावित होना अस्वाभाविक नहीं होता। इनके प्रभाव व प्रेरणा से हिन्दी कहानी का [illegible] मुक्त है।

इस युग की कहानियों में दो बड़ी-बड़ी विशेषतायें—प्रथम, मनो[illegible] मूलकता और द्वितीय, बौद्धिकता। मनोविज्ञान के दो रूप [illegible] परिलक्षित होते हैं—१. अन्तर्संघर्ष २. यौन वाद (सैक्स)। अन्तर्संघर्ष में व्यक्ति और समाज की अनेक समस्याओं का विश्लेषण किया जाता है। जैनेन्द्र की 'एक रात' इलाचन्द्र जोशी की 'अभिनेत्री' अज्ञेय की 'कड़ियाँ' इस प्रकार की प्रतिनिधि कहानियाँ हैं। नारी और पुरुष के संबंधों व उनके हृदय का सूक्ष्म विवेचन अनेक कहानियों में सुन्दरता से किया गया है, जैसे अज्ञेय की 'रोज़', जैनेन्द्र की 'पत्नी' भगवतीचरण वर्मा की 'पराजय और मृत्यु' में। इन पर फ्राइड के यौनवाद का प्रभाव स्पष्ट है।

रामवृक्ष बेनीपुरी, विष्णुप्रभाकर, यशपाल जैन, ओंकार शरद, धर्मवीर भारती, प्रभाकर माचवे आदि साहित्यकारों की कहानियाँ भी महत्वपूर्ण बन रही हैं।

मार्क्सवादी विचारधारा का प्रभाव समाजवादी कहानियों में प्रकट हुआ। व्यक्ति का महत्व कम हुआ और समाज का अधिक। व्यक्ति को लेकर ही समाज का चित्रण उपस्थित किया जाता है, जैसे जैनेन्द्र की 'दाहर', यशपाल की 'पुलिस की दफा' में। यशपाल, अमृतराय, पहाड़ी, रांगेय राघव इसके उल्लेखनीय कथाकार हैं। उर्दू [illegible]चन्द्र, [illegible], महेन्द्र आदि भी आजकल हिंदी में लिखे जाने लगे हैं।

[illegible] की मनोविश्लेषण का एक पक्ष है। ये कहानियाँ [illegible] हैं। इनकी शैली में [illegible] की, पात्रों में भावुकता की ओर [illegible] में [illegible] को बनी है। अमृतराय, रांगेय राघव, [illegible], [illegible] की [illegible] इसी तरह की है। इनमें [illegible] हुआ है।

—नसे गुप्त-वंश के इतिहास पर नवीन प्रकाश पड़ता है। उसमें एक उद्धा- इस आशय का भी है—"जिस प्रकार 'देवीचन्द्र गुप्त' के द्वितीय अंक में (अमात्य, प्रजा) को आश्वासित करने के लिए शकराज को ध्रुवदेवी करने पर, राजा रामगुप्त के द्वारा अरि-वध की इच्छा वाले, ध्रुवदेवी स्त्र धारण किए हुए कुमार चन्द्रगुप्त को सुनाने की इच्छा से कहा गया— घा की उक्तियों में उपपति को धारण करने वाली तुम्हें छोड़ने का उत्साह करता'।

भरत के नाट्य-शास्त्र के २८ वें अध्याय की टीका करते हुए अभिनव ने अपनी 'अभिनव-भारती' में विनय प्रधान कुल वधु और गणिका- ंधिका का अन्तर स्पष्ट करते हुए उसी लुप्त नाटक 'देवी चन्द्रगुप्त' का उदाहरण दिया है जो चन्द्रगुप्त के माधव सेना नामक वेश्या के कथन संबन्धित है।

इसी प्रकार भोज रचित 'शृंगार-प्रकाश' नामक ग्रन्थ में 'देवी चंद्रगुप्त' ाटक के ४ उद्धरण दिए गये हैं जो चन्द्रगुप्त के वेश बदल कर शकाधिपति े शिविर में जाने की योजना से और चन्द्रगुप्त के जान बूझ कर पागल का अभिनय करने से सम्बन्धित हैं।

प्रसिद्ध कवि बाण-भट्ट ने 'हर्ष-चरित' के छठे उल्लास में एक स्थान पर लेखा है—"अलिपुर में स्त्रीवेश में छिपे हुए चन्द्रगुप्त ने 'परकलत्र–कामुक ाकपति को मार दिया।"

'हर्षचरित' के इसी प्रसंग की टीका करते हुए शंकर ने लिखा है— 'शकों का आचार्य–शकपति चन्द्रगुप्त के भाई की पत्नी ध्रुवदेवी की इच्छा रता हुआ, ध्रुवदेवी का वेश धारण किए हुए चन्द्रगुप्त द्वारा, स्त्री-वेश में होने के कारण एकान्त में मार दिया।"

राजशेखर ने 'काव्य-मीमांसा' में लिखा है—"ध्रुवस्वामिनी देवी को शकाधिपति को देकर खण्डित साहस वाला श्री रामगुप्त जिससे हट गया, उसी हिमालय पर जिसकी विस्तृत गुफाओं के किनारों पर किन्नरों का शब्द हो रहा है, कार्तिकेय नगर की स्त्रियों द्वारा तेरी कीर्ति का गान हो रहा है।

राजा अमोघवर्ष के ताम्रपत्र पर, जिस पर शक संवत ७९५ है निम्नलिखित अर्थ वाला श्लोक अंकित है—"भाई को मार कर हरा, और देवी को भी, दोनों को लाखों-करोड़ों दान देकर कलियुग में से ही यह गुप्त-वंश वाला दानी बना। जिसके शरीर छोड़ने के साथ राज्य भी नष्ट-भ्रष्ट कर दिया और बाहर की बातों से क्या प्रयोजन! उन्नति लज्जा-जनक ही है; राष्ट्र-कुल-तिलक ही कीर्ति में श्रेष्ठ दाता है।"

राष्ट्र-कुल-तिलक राजा गोविन्द-चतुर्थ की सांगली और कैम्बे प्रशस्तियों में एक ऐसा ही श्लोक है जो 'देवी चन्द्रगुप्त' नाटक में की घटनाओं की सच्चाई की पुष्टि करता है। श्लोक में चन्द्रगुप्त के पाप उल्लेख है तथा गोविन्द चतुर्थ को पापरहित विक्रमादित्य कहा गया है।

ये सब ऐसे प्रमाण हैं जिनसे निष्कर्ष निकाला जा सकता रामगुप्त नाम के गुप्त वंश के एक राजा ने अपनी महादेवी ध्रुवस्वामिनी शकराजा को प्रदान करने का निश्चय कर लिया। कुल मर्यादा और की रक्षा के लिए कुमार चन्द्रगुप्त स्त्री वेश में (ध्रुवस्वामिनी वेश में) के पास गए और उचित अवसर देखकर उसे मार दिया।

इस पर अवश्य ही यह प्रजा और महादेवी के क्रुद्ध आया होगा। इसी बीच रामगुप्त की भी हत्या करदी गई। यह निश्चय नहीं कहा जा सकता कि यह हत्या चन्द्रगुप्त ने ही प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष से करवाई अथवा किन्हीं अन्य कारणों से हुई। रामगुप्त की मृत्यु के शासन-सूत्र अपने हाथ में ले ध्रुवस्वामिनी से विवाह किया। के शिलालेख और राजकीय प्रशस्तियों से यह स्पष्ट है कि ध्रुवदेवी विक्रमादित्य की धर्म पत्नी थी। 'नाट्य-दर्पण' आदि के आधार पर मानना भी अनुचित नहीं होगा कि पहिले यह किसी और की पत्नी थी। के ईरान के स्तम्भ लेख से प्रतीत होता है कि उसके कई पुत्र थे। ज्येष्ठ पुत्र रामगुप्त था। चन्द्रगुप्त द्वारा शकराज के मारे जाने के बाद गुप्तकाल हिंदू धर्म का पुनरुत्थान काल था। समस्त शास्त्र, स्मृति, उपनिषद्, पुराण आदि की इस काल में नवीन प्रतिलिपियाँ पुनः प्रस्तुत हुईं। सामाजिक परिवर्तन

के साथ पुरातन धर्म के नियमों में भी परिवर्तन आया। नारद और पाराशर-स्मृतियों में शायद इसीलिए नारी के लिए विशेष अवस्थाओं में मोक्ष की आज्ञा दी गई है।

उपरोक्त वर्णनों के अतिरिक्त रामगुप्त के विषय में अन्य कोई महत्वपूर्ण उल्लेख नहीं मिलता है। इसका शायद यही कारण रहा हो कि उसका शासन-काल बहुत थोड़ा था। तथा उसकी कापुरुषता, दुर्बलता आदि के कारण वह अपदार्थ बनकर ही राज्य कर सका। गुप्तवंश के अन्य प्रतापशाली सम्राट, समुद्रगुप्त, चन्द्रगुप्त आदि की तुलना में उसकी नगण्यता के कारण उसे भुला दिया जाना ही अधिक ठीक समझा गया और वंशावली आदि में उसका कहीं उल्लेख नहीं किया गया।

करारी हार

श्री मार्कट्वेन अमेरिका के एक प्रसिद्ध साहित्यकार थे। एक बार लंदन के हाइड पार्क में एक विशाल सभा का आयोजन किया गया। मार्कट्वेन और नवयुवक बर्नार्ड शा दोनों ही वहां आमन्त्रित थे। उनकी बड़ी इच्छा थी कि श्री ट्वेन को वे अपना भाषण सुनायें, ताकि श्री ट्वेन भी समझ लें कि उनके टक्कर का कोई और भी है। पर उनकी निराशा का ठिकाना न रहा, जब उन्होंने उसी वक्त श्री ट्वेन को अपनी कार में बैठकर वहां से रवाना होते देखा।

पन्द्रह-बीस वर्षों बाद एक बार फिर शा को यह मौका हाथ लगा। इस दफा उन्होंने निश्चय कर लिया कि वे श्री ट्वेन से पहले ही अपना भाषण दे देंगे। हुआ भी ऐसा ही, शा कोई दो घंटे तक लंबा-चौड़ा भाषण देने के बाद विजय-गर्व में फूलते हुए श्री ट्वेन के पास पहुँचे और पूछा 'कैसा लगा भाषण ?' पर उत्तर में जब मालूम हुआ कि इस पन्द्रह बीस वर्षों के अर्से में श्री ट्वेन बिलकुल बहरे हो गये थे और शा के भाषण का वे एक शब्द भी नहीं सुन पाये थे। शा को घोर निराशा हुई। वे इस घटना को जीवन भर अपनी करारी हार मानते रहे।

★ भ्रमर गीत-परम्परा में 'उद्धव-शतक' का स्थान ★

★ श्री जगन्नाथ पुरोहित एम० ए०

विप्रलम्भ शृंगार का महत्वपूर्ण अंग भ्रमर गीत हिन्दी-साहित्य की अमूल्य निधि है। श्रीमद्भागवत के दसवें स्कन्ध के सैंतालीसवें अध्याय में वर्णित कथा के अनुसार श्रीकृष्ण के कहने पर उनके अंतरंग मित्र उद्धव ब्रज में कृष्ण के वियोग में विरहाकुल गोपियों को ज्ञान का संदेश देने के लिये जाते हैं। उद्धव द्वारा दिया गया ज्ञान का संदेश गोपियें ग्रहण कर लेती हैं। उनका हृदय मुरली वाले कृष्ण की ओर से हट कर पर-ब्रह्म परमेश्वर की ओर रम जाता है।

इस पौराणिक मान्यता को साहित्य में स्वीकृति न मिल सकी। इस विषय पर सर्व प्रथम लेखनी चलाने वाले हमारे अष्ट छाप के प्रमुख कवि सूर ने पौराणिक कथा में जो परिवर्तन किया वह सर्वथा उपयुक्त एवं स्वाभाविक ही था। ज्ञान पर भक्ति की विजय ही हमारे इस भक्ति शिरोमणि अंधे कवि सूर का प्रमुख उद्देश्य रहा है, यही तो कारण है जो ज्ञान के घमण्ड में ब्रज-बालाओं का यह उपदेशक रग रग में कृष्ण के प्रेम में रमी हुई इन ब्रज-बालाओं के समक्ष प्रेम की महत्ता को प्रदर्शित करता चला जाता है पर क्या करे ?

'सूरदास प्रभु कारी कमरिया चढ़त न दूजो रंग।'

सूर की भोली-भाली सागर-बालाओं के आकुल अन्तर से नम्र-निवेदन स्वरूप निकले हैं–जिन भावों की अभिव्यक्ति हुई है, जिन व्यंग-बाण हुए हैं वह निश्चय ही ब्रह्म के निर्गुण निराकार रूप को उसी गन विश्वासी साकार मूर्ति की स्पष्ट चुनौती है।

पौराणिक-कथा के इसी परिवर्तित रूप को लेकर सूर के भ्रमर गीत को ही आदर्श मान कर यद्यपि नंददास ने भी इसी विषय पर ही काव्य-रचना की है तथापि इनकी गोपियें सूर की ग्राम्य-बालाओं से पूर्णतया विपरीत व्यवहारिक ज्ञान से परिपूर्ण हैं। विमता की यह भूमिका हृदय व बुद्धि-

(शेष पृष्ठ १०१ पर)

'नहुष'

'नहुष' में जीवन की कुछ समस्याओं का काव्यात्मक अभिव्यंजन

सुश्री० राजकुमारी शिवपुरी एम. ए.

नहुष की कथावस्तुः—नहुष खण्ड काव्य है जिसकी कथावस्तु संक्षिप्त में इस प्रकार है। वृत्रासुर की हत्या करने से इन्द्र पर ब्रह्म हत्या का दोषारोपण किया गया अतएव इन्द्र स्वर्ग से निकल कर मान सरोवर में छिप गए। देवताओं ने नहुष को सर्वगुण सम्पन्न देख स्वर्ग का शासन कार्य सौंप दिया। नहुष ने अपने सुन्दर संस्कारों के कारण इन्द्रासन प्राप्त किया और सदेह स्वर्ग पहुंच गए। उन्हें स्वर्ग प्राप्ति के उपरान्त बड़ा अभिमान हो गया और उन्होंने इन्द्राणी पर भी अपना अधिकार धताया। चिंतातुर शची देवगुरु बृहस्पति के पास परामर्श को गई और उनकी परामर्शानुसार शची ने नहुष को कहला भेजा कि वह यदि सप्त ऋषियों द्वारा उठाई हुई पालकी में चढ़ कर आये तो शची उसे वरण कर लेगी। कामान्ध एवं अहंकारी नहुष ने ऐसा ही किया। जब ऋषियों से पालकी ठीक प्रकार से उठाई नहीं गई तो नहुष को अत्यन्त क्रोध आया और उसने " सर्प सर्प " अर्थात " चल चल " कह कर ऋषियों को भला बुरा कहा। ऋषियों से अपमान न सहा गया और मारे क्रोध के एक ने नहुष को सर्प बन कर पृथ्वी पर गिर जाने का श्राप दे दिया। नहुष उसी क्षण सर्प योनि से पृथ्वी पर गिर पड़ा। कथा यहीं पर समाप्त हो जाती है किन्तु वह पुरुष था। उसमें बल, शक्ति, साहस, अभिमान, उत्साह, प्रेरणा सभी कुछ था जो उसी के द्वारा कहे गये शब्दों में प्रकट है।—

'मानता हूं और सब हार नहीं मानता,
अपनी अगति नहीं, आज भी मैं जानता।'

आज मेरा भुक्तोज्झित हो गया है स्वर्ग भी,
ले के दिखा दूँगा कल मैं ही अपवर्ग भी।'

और फिर -

अपना [illegible] है बस [illegible] तक [illegible],
गिरना ही मृत्यु नहीं, मृत्यु है [illegible]।
फिर भी उठूँगा और बढ़ के रहूँगा मैं,
नर हूँ, पुरुष हूँ मैं, चढ़ के रहूँगा मैं।'

श्री मैथिलीशरण गुप्त ने इस खण्ड काव्य की रचना किस उद्देश की यह इसकी कथावस्तु से स्पष्ट है। गुप्तजी यथार्थवाद से आदर्शवाद को अधिक महत्व देते हैं। गुप्तजी का सिद्धान्त है—कला कला के लिए न जीवन के लिए है अतएव कला का उद्देश्य मनुष्य की सद्वृत्तियों का विकास करना है, उसे कल्याणी बनाना है। इसी उद्देश्य को लेकर मन जीवन के उत्थान और पतन का दर्शन उन्होंने अपने 'नहुष' खण्ड में कराया है।

(१) इसमें कवि ने कथा के स्थान पर विचारों को विशेष प्रधानता दी है। मनुष्य अपने ही सुकर्मों से उच्चासन प्राप्त करता है और अपने कुकर्मों से पुन: नीचे गिर जाता है। वह अपूर्ण है सम्पूर्णता प्राप्त करने के लिए अच्छे कर्मों की शरण उसे लेनी पड़ती है! वह बार बार ऊँचा चढ़ता है और मानवी दुर्बलताएं उसे फिर नीचे गिराने का प्रयत्न करती हैं पर, मनुष्य को इन सब दुर्बलताओं से भयभीत होकर पीछे नहीं हटना है, वह पुरुष है उसे दुर्बलताओं पर विजय प्राप्त करनी ही होगी। यही प्रयास, यही उत्थान-पतन 'नहुष' के प्राण हैं। गुप्तजी ने मनुष्य की सद्वृत्तियों को सदैव कल्याणाभिमुखी बनाया है जिसमें अमरता का चिर सन्देश है। वे उद्देश्य की पूर्ति में कभी डिगे नहीं।

(२) सभ्यता के संस्थापक कवि ने विश्व को सदा मानवता का सन्देश दिया है। जीवन की उन्नति गुप्तजी कभी नहीं भूले हैं। उनमें 'अपनी' वस्तु के प्रति एक विशेष प्रेम है जो अत्यन्त स्वाभाविक है।

[अ]पनी जाति, अपनी भूमि, अपना अधिकार, अपनी संस्कृति और अपनी [भा]षा आदि को वे कभी नहीं भूलते। वे युग प्रतिनिधि कवि हैं। राष्ट्रीयता [उ]नमें स्थान स्थान पर प्रस्फुटित हुई है। युग की प्रधान भावना, राष्ट्र-प्रेम, [मातृ]भूमि का अगाद स्नेह उनकी इन पंक्तियों में चित्रित है:—

> 'मेरी भूमि तो है पुण्य भूमि वह भारती,
> सौ नक्षत्र लोक करें आके आप आरती।'
>
> ❀ ❀ ❀ ❀
>
> 'ऊँचे रहे स्वर्ग, नीचे भूमि को क्या टोटा है?
> मस्तक से हृदय कभी क्या कुछ छोटा है?'

(३) विश्व-बन्धुत्व के सिद्धान्त को मानने वाले गुप्तजी के ही शब्दों में यह सन्देश देखिये जिसमें आधुनिक युग की समस्या की झलक भी है:—

> 'क्या देवत्व छोड़ें हम और नर हों वही,
> खण्ड खण्ड जिसमे हुई है महती मही?
> जो न एक सार्वभौम भाषा भी बना सका,
> जान सका पर की न अपनी ही जना सका।
> भूल हम भी क्या एक वाणी बहु-भाषी हों?
> भूल विश्व-भाव अपने ही अभिलाषी हों?'

किन्तु समाज कितना कठोर है, वज्र के समान कठोर, उससे कोई नहीं बच पाया। शची के शब्दों में कवि ने वह समस्या भी प्रस्तुत करदी है:—

> 'सत्ता हां समाज की है, वह जो करे, करे;
> एक अबला का क्या, जिये, जिये; मरे मरे।'

(४) नारी को समाज ने सदैव बन्धन में रखा है। सबल मानव ने सदा अबला नारी की उपेक्षा की है जबकि उसी की प्रतिक्रिया की ध्वनि 'नहुष' काव्य के अन्तर्गत भी आ गई है। पृथ्वी के प्रतापी राजा नहुष को इन्द्रासन देते समय शची से किसी ने अनुमति नहीं ली किन्तु शची

लेने की हठ ने नहुष को कितना सबल बना दिया और देवता ... सम्मति से वह नहुष को वरण कर सकने की अधिकारिणी थी।

(४) 'नहुष' में अछूत समस्या का भी हल्का सा पुट है। नहुष स्वर्ग पहुँचे जैसा कि कभी नहीं होता। मृत्यु के उपरान्त स्वर्ग की ... सभी ने की किन्तु मृत्युलोक के इस मिट्टी के बने शरीर से कौन स्वर्ग का अधिकारी हुआ है सम्भवतः यही कारण था तभी नहुष को स्वर्ग का वातावरण कुछ अजीब सा लगा और वे कहने लगे.—

'चोट लगती है, यह सोचता हूं मैं जहां !
छूत तो किसी को इस तनु से नहीं यहां ॥'

कवि मैथिलीशरण गुप्त ने दलित वर्ग की आशंका इन शब्दों द्वारा व्यक्त कर ही दी है।

(६) मातृवात्सल्य का विकृत रूप, जो आज के युग में हो गया है वह भी उनके 'नहुष' काव्य में प्रस्तुत है।

गुप्तजी ने नहुष में 'मानव' की कथा कही है। 'मानवता' का चित्रण करके उन्होंने सारे विश्व को 'मानवता' का अमर सन्देश सुनाया है। 'मानव' संसार की विशाल शक्ति है—उसी से सभी डरते हैं क्योंकि वह किसी ओर भी जा सकता है—

'देव सदा देव तथा दनुज दनुज हैं ।
जा सकते किन्तु दोनों ओर ही मनुज हैं ॥'

पृथ्वी कर्म-भूमि है। यहां सुख पाने के लिए दुखों को सुख रूप से अपनाना पड़ता है। बिना दुख, सुख का कोई महत्त्व नहीं.—

'सुलभ यहां जो स्वाद, उसका महत्त्व क्या ?
दुख जो न हो तो फिर सुख में है सत्त्व क्या ?'

और तत्व से सम्पन्न मानवता के महत्व को तो सभी देवताओं ने भी—

'मान्य विबुधों को भी, यथार्थ मनुष्यत्व है।
उसमें परम सप—त्याग तथा तत्व है॥'

इस साधना में यदि मानव हर गया, तो मानव ही क्या ? मनुष्य रना जानता है—इसी के उदाहरण स्वरूप 'नहुष' की ये पंक्तियां देखिये-

'विघ्नों में विचरते हैं हर सकते हैं हम।
नर हैं, अमर नहीं, मर सकते हैं हम॥'

मनुष्य को अपने साधना—पथ पर चलना है यदि वह इस परीक्षा में रह गया, गिर गया तो भी कोई बात नहीं! गिरने पर भी सम्भलना जीवन का ध्येय है। नहुष का पतन भी उसका उत्थान है। वह साहस नहीं छोड़ता। आशा उसके जीवन के पग पग पर विराजमान है। गिरने में भी उसे अभिमान है, गौरव है, क्योंकि गिर कर वह अपनी मां की गोद ही में तो जा रहा है। मातृभूमि का प्रेम उसके अन्तर में आज भी उतना ही है जितना कि पहले था—गिर कर वह जायगा भी कहां—

'स्वर्ग से पतन, किन्तु गोत्रिणी की गोद में।'

स्वर्ग तो उसके लिए साधना-पथ का विश्राम गृह तुल्य है—यदि जीवन की यात्रा में इस साधना-पथ में उसे विषपान भी करना पड़े तो कोई चिन्ता नहीं—कभी कभी विष भी अमृत का कार्य करता है—

'आवश्यक विष भी कभी है योग्य मात्रा में।
स्वर्ग भी विराम एक है हमारी यात्रा में॥'

इस प्रकार मैथिलीशरणजी ने मानव के उत्थान-पतन की कहानी जिस उद्देश्य को लेकर लिखी है वह निस्सन्देह अत्यन्त सफलता प्राप्त है। संवाद सुन्दर और सजीव हैं। कहीं कहीं संवाद व्यर्थ से भी जान पड़ते हैं, यदि कुछ संवाद हटा दिये जांय तो भी कथावस्तु को किसी प्रकार की ठेस नहीं पहुँच सकती है किन्तु फिर भी संवाद कहानी का पूर्व करते हैं और पात्रों के मनोवेगों तथा विचारों को प्रत्यक्ष रूप

बावनी, नीति मंजरी, मावड़िया मिजाज, गङ्गालहरी, संतोष बावनी, कायर बावनी, स्फुट संग्रह आदि २७ ग्रन्थ हैं। आपके सृजित समस्त साहित्य का प्रकाशन नागरी प्रचारिणी सभा, काशी ने तीन भागों में किया। सभा ने एक महाकवि को प्रकाश में लाने का सचमुच एक बड़ा महत्वपूर्ण कार्य किया है। इतना विशाल साहित्य-सृजन राजस्थानी में शायद ही किसी महाकवि ने किया हो।

भाषाः—

आपकी भाषा में डिंगल की प्रधानता होते हुए भी अन्य भाषाओं का पुट भी मिलता है। भाषा प्रौढ़ और परिमार्जित है। और इसमें प्रसाद गुण अधिकता से पाया जाता है। सरलता उसका विशेष गुण है।

शैलीः—

साधारणतया शैली उत्कृष्ट होते हुए भी उपदेशात्मक प्रवृति ही अधिक पाई जाती है। आपकी कृतियों में वीर-रस ही प्रधान मिलता है, किन्तु साथ ही अन्य रसों का भी अभाव नहीं है। अलंकार भी जहाँ-तहाँ मिलते हैं।

आपकी वीर रस से ओत-प्रोत रचनाओं का उदाहरण देखिये।

यथाः—
सूर न पूछै टीपणो, सुकन न देखै सूर।
मरणा नै मङ्गल गिणै, समर चढै मुख नूर ॥१॥
कायर घर मापण करै, पूछै मद दुख पाम।
सरज वाम प्यारो गिणै, अब पिव प्यारो साम ॥२॥
कृपण जतन हो धन करै, कायर जीव जतन।
सूर जतन जतनै करै, जिनसें ओछो तन ॥३॥

और भी—

समकदार सूराँ नहीं, पूर सम दुरमाह। आदि

उपरोक्त वीर-रस से ओत-प्रोत उत्साह प्रेरणा की प्रतीक रचना किसी भी साहित्य का अपूर्व गौरव मानी जा सकती है। ऐसे वीर काव्य को पाकर कौनसा भाई अपने को धन्य नहीं मानेगा? निःसन्देह महाकवि बाँकीदासजी राजस्थानी के गौरव माने जाते हैं।

नीति के उपदेशात्मक छन्द भी इन्होंने बड़े उत्कृष्ट कहे हैं। इनके निम्न . का रसास्वादन कीजिए—

इण्डो ओछ कहै इम बाँको, कड़वा बोलिया प्रभत किसी।
नहीं समझदार न मानै, प्रीत नहीं समझदार किसी॥

★

हिन्दी आदि और भक्ति-काव्य में वर्षा-वर्णन

—सुश्री० उर्मिला कुमारी वार्ष्णेय एम० ए०

प्रकृति-मानव की आदिम सहचरी है। मानव ने पृथ्वी तल पर नेत्र खोलने के बाद सबसे पहले अपने आपको उसी की गोद में पाया होगा। प्रकृति के प्रत्येक अवयव से उसने चेतना और प्रेरणा पाई होगी। प्रकृति के द्वारा ही उसने जगत माया के अलौकिक, भयावह और सौम्य रूप के दर्शन किये होंगे।

ज्यों ज्यों मानव मस्तिष्क अधिकाधिक विचारशील हुआ उसकी चिर सहचरी प्रकृति के विविध रूपों से वह सम्पर्क स्थापित करता गया। हमारे प्राचीन कवियों ने प्रकृति के उन्मुक्त वातावरण में स्वच्छन्द विहार किया। उनका ज्ञान प्रत्यक्ष अनुभव द्वारा उपलब्ध किया गया था। इसीलिए कालीदास भवभूति आदि ने वर्षा वर्णन बड़े व्यापक रूप में किया है। आदि कवि वाल्मीकि ने वर्षा वर्णन का चित्र बड़े ही अभिनव रूप में चित्रित किया है—

विद्युत्पताका सबलाकमाला शैलेन्द्र कूटा कृति सन्निकाशाः।
गर्जन्ति मेघाः समुदीर्णनादा मत्ता गजेन्द्रा इव संयुगस्था॥

वर्षा ऋतु में बरसाती नालों को सर्प समझ कर मेंढक डर रहे हैं उसका महाकवि ने कैसा स्वाभाविक वर्णन किया है:—

"विपाण्डुर कीटर जलन्यान्वित भुजंग वक्र गति प्रदीपनम्।
ससाध्वसैर्भेक कुलैर्निरीक्षितं प्रयाति निम्नाभिमुखं नवोदकम्॥"

छोटे छोटे कीड़े धूल और घास का बहता हुआ मटमैला बरसाती पानी सांप के समान टेढ़ा मेढ़ा घूमता हुआ ढाल से बहा आ रहा है और बेचारे मेंढक उसे सांप समझ कर देख देख कर डरे जा रहे हैं।

मस्तिष्क के विकास, बुद्धि की न्यूनाधिक प्रखरता के कारण मानव के जीवन के प्रति विभिन्न दृष्टिकोण हुआ करते हैं। समय और स्थिति के अनुसार इन दृष्टिकोणों में भी परिवर्तन होता रहता है। कालीदासजी के विरह काव्य मेघदूत में उन्माद का इतना आधिक्य हो जाता है कि वह जड़ और चेतन का भेद भूल जाता है। यक्ष मेघ से अपनी विरह व्यथा का वर्णन करने बैठ जाता है—

> सन्तप्तानां त्वमसि शरणं तत्पयोद प्रियायाः ।
> सन्देशं मे हर धनपति क्रोध विश्लेषितस्य ॥ १ ॥
>
> पूर्व मेघ श्लोक ६

[हे मेघ ! तुम्हीं तो संसार के संतप्त प्राणियों को शीतलता प्रदान करते हो अतः कुबेर द्वारा निर्वासित मुझ वियोगी का सन्देश मेरी प्रिया तक ले जाओ]

हिन्दी वीरगाथा काल में, काव्य परम्परा में प्रकृति का कोई स्वतन्त्र महत्व नहीं रहा। इससे पूर्ववर्ती कवियों ने प्रकृति के विस्तृत प्रांगण में विचरण किया था। परन्तु इन परवर्ती कवियों ने उससे विच्छेद तो नहीं कर हां, तटस्थ सा कर लिया। उनका ज्ञान क्षेत्र आश्रय दाताओं के प्रसादों में सीमित हो गया। काव्य शिशु को प्रकृति के प्रांगण में खेलने का थोड़ा भी अवसर न मिला। यदि प्रकृति की ओर ध्यान भी गया तो बारहमासे और षटऋतु वर्णन में। महाराज पृथ्वीराज ने अनेक कन्याओं से विवाह किए। नट द्वारा राजकुमारी शशिव्रता के सौंदर्य की प्रशंसा सुन कर वे मुग्ध हो गए। महाकवि चन्द ने वर्षा का वर्णन करते हुए उन भावों का अच्छा परिचय दिया है—

> मोर सोर चिहु ओर, घटा आसाढ़ बन्धि नभ
> बच दादुर झिंगुरव रटत चातिग रंजत सुभ
> नील बरन वसुमतिय, पहिर आभ्रन आलंकिय
> चन्द बधु सिरका व्याज धरे बसु मनि सुरज्जिय
> बरसत बुंद घन मेघसर, तब सुख रंजहव कुंअरि

कबीर का विषय नीति और धर्म उपदेश मुख्यतः है। राम उनके प्रियतम हैं और वे उनकी पत्नी। वियोग में वर्षा की झड़ी उन्हें कसक उठी। वे कह उठे, विरहणियों को उनके प्रियतम मिल गए पर मेरे प्रियतम उनको क्या कहूं अभी तक नहीं लौटे। वर्षा में प्रकृति की हरियाली उनके घावों को हरा कर देती हैं—

मास असाढ़ रवि धरनि जरावे जरत जरत जल जाइ बुझावे
हरति सुभाइ जिमीं मन जागी, अमृत धार होइ झर लागी
जिमीं माहिं उठी हरि आई, विरहिन पीव मिले वन जाई
मनिका मन के भये उछाहा कारन कौन विसारी नाहा।

महाकवि जायसी ने भी उद्दीपन रूप में प्रकृति का सुन्दर चित्रण किया है। प्रिय के संयोग में अभिलाषित वर्षा ऋतु मनोहारी हो उठी है—

सीतल बूँद ऊँच चौपारा, हरि पर सब देखा संसारा।
हरि पर भूमि कुसंमी चोला, औ धनि पिउ संग रचहिं होला।

'पवन झकोरे होइ हरप लागे सीतल बास।
धनि घा ने यह पवन है पवन सो अपने पास॥

प्रकृति की शीतलता प्रिय के समीप्य के ही कारण उसे आनन्दित करती है।

रंगराती प्रियतम संग जागी, गरजे गगन चौंकि गर लागी। संयोग में जो वर्षा ऋतु प्रेयसी और प्रियतम के पारस्परिक आकर्षण का साधन बनती है वही वियोग में नागमती पर —

" खड़ग बीजु चमके चहु ओरा।
बुंद बान बरसहिं घन घोरा।
दादुर मोर, कोकिला पीऊ ।
गिरे बीजु घटा रहै न जीऊ।"

महाकवि तुलसीदासजी राम भक्त थे। उनकी रचना स्वान्तः

इन्द्र धनुष मनो पीत बसन छवि, दामिन दसन विचारि
जनु बग पांति माल मोतिगन चितवत चित लेत हैं हारि
॥ ३२३ ॥ भ्रमर गीत सा

वर्षा की मधुरिमा नन्ददास की चरित्र नायिका को भी व्यथित कर देती हैं। अपने प्रियतम से मिलने को वह व्यग्र हो उठती है—

दादुर मोर पपहि बोले कोइल मधुरे साज।
उमग्यो इन्द्र चहुं दिसि बरसे दामिन छोड़ी लाज।
धरती रूप नवा नवा धरिया इन्द्र मिलन के काज।
मीरां के प्रभु गिरधर नागर बेगि मिलो महाराज।
(मीरा पदावली पृष्ठ ४१)

महाकवि केवल अपनी ही पीढ़ी के लिए नहीं लिखते। उनका कार्य युगों के लिए होता है। विरह से प्रेम का घनिष्ठ सम्बन्ध है। कलियां न फूलें तो सुगन्ध कहां से हो ? भावनाओं का यह विलास जिसे हम संसार को धोखा देने और व्यवहार के सामजस्य के लिए बरबस मन के कोने में ढूंढ रखते हैं। प्रकृति उन्हें उकसा देती है। ❖

हिन्दी की समृद्धि के लिए प्रांतीय बोलियों को त्याग करना होगा ...

★ राजर्षि पुरुषोत्तमदास टंडन

'हिन्दी को दीनहीन समझना गलत है। हिन्दी का साहित्य अत्यन्त मूल्यवान है। कबीर, तुलसीदास आदि के जोड़ के कवि संसार में शायद ही मिल सकें। राजस्थानी, अवधि, ब्रज, बुंदेली आदि बोलियों ने स्वयं पीछे रह कर अपना सौंदर्य हिन्दी को दे कर उसे सपन्न बनाया है। अब यदि उक्त बोलियां पाठ्यक्रम का माध्यम बनाना चाहें, तो हिन्दी का संघटन विघटित हो जायगा। मेरी मातृ भाषा अवधि है, किन्तु मैं अवधि में पाठ्य पुस्तकें तैयार करने का घोर विरोधी हूँ। यही त्याग अन्य बोली बोलने वालों को करना चाहिए। तभी राष्ट्र भाषा हिन्दी का गौरव कायम रहसकेगा और उसके स्वरूप में स्थिरता आ सकेगी।'

हिन्दी उपन्यासों का प्रवृतिगत विकास

★ श्री भवानीलाल 'भारतीय' ★
एम० ए०, साहित्यरत्न

✱

हिन्दी उपन्यासों का प्रारम्भ उन्नीसवीं शताब्दि से माना जाता है। संस्कृत साहित्य में बाण भट्ट की कादम्बरी, विष्णु शर्मा का पंचतंत्र, दण्डी का दश कुमार चरित आदि रचनायें आधुनिक उपन्यास का प्राचीन रूप माने जा सकते हैं, यद्यपि इन दोनों प्रकार की रचनाओं में विषय और शैलीगत भेद स्पष्टदृष्टि गोचर होता है। गत शताब्दि में बैताल पचीसी और सिंहासन बत्तीसी जैसी रचनायें संस्कृत से हिन्दी में आकर जनता का पर्याप्त मनोरंजन कर रही थीं और किस्सा तोता-मैना जैसी कुरुचि उत्पादक परन्तु सामान्य जन समाज में प्रचलित रचनाओं का भी जनता में पर्याप्त प्रचार था।

इस प्रकार के वातावरण में हिन्दी में मौलिक उपन्यासों की परम्परा प्रारम्भ होती है। साहित्य के अन्य अंगों की भांति उपन्यास के क्षेत्र में भी भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने लेखकों का नेतृत्व किया और उनके द्वारा किये हुये एक मराठी उपन्यास का हिन्दी अनुवाद पूरण प्रकाश और 'चन्द्रप्रभा' का नाम इतिहासों में मिलता है। परन्तु हिन्दी के प्रथम मौलिक उपन्यास लेखक लाला श्रीनिवासदास माने जाते हैं। इन्होंने 'परीक्षा गुरु' लिखा जो हिन्दी का आदि उपन्यास है। यह उपदेशात्मक शैली पर लिखी गई रचना है, जिसके प्रत्येक परिच्छेद का प्रारम्भ संस्कृत, हिन्दी या अंग्रेजी की किसी सूक्ति या सुभाषित से हुआ है। हिन्दी प्रदीप के सम्पादक पं. बालकृष्ण भट्ट और मेहता लज्जाराम के 'सौ अजान और एक सुजान' तथा 'आदर्श हिन्दू' आदि उपन्यास भी इसी शैली का अनुसरण करते हैं। भट्टजी के उपन्यास का नायक एक साहूकार पुत्र है जो कुसंगतिवश चरित्र-हीन हो जाता है

परन्तु एक अच्छे मित्र का संसर्ग पाकर पुनः अपने आपको ऊँचा उठाता है। 'आदर्श-हिन्दू' में एक ब्राह्मण दम्पति के जीवन का चित्रण है जो लेखक के विचारानुसार उदार, प्रगतिशील और अनुकरणीय हिन्दू जीवन का चित्र है।

उपन्यासों के द्वारा उपदेश और शिक्षा की यह परम्परा स्थायी नहीं हो सकी क्योंकि मनोरंजन की मांग पर देवकीनन्दन खत्री ने ऐसे उपन्यास प्रस्तुत किये जो पाठकों की कौतूहल और जिज्ञासा की प्रवृत्ति को शान्त करते थे। खत्रीजी के चन्द्रकान्ता, भूतनाथ, वीरेन्द्रवीर, काजर की कोठरी आदि उपन्यासों के मूल में अलिफलैला, सिन्दबाद सौदागर, तिलिस्म-होशरुबा, गुलसनोवर, गुलबकावली जैसी तिलिस्म, जादू और रूमानी प्रेम से सम्बद्ध कहानियाँ काम कर रही थीं जिन्होंने अपने रोमांटिक वातावरण से कल्पनाप्रधान व्यक्तियों का पर्याप्त काल तक मनोरंजन किया था। यद्यपि खत्रीजी के उपन्यासों के मूल में फारस के ऐश्वर्य और विलास से रंजित वातावरण का प्रभाव काम कर रहा था, परन्तु उन्होंने अपने उपन्यासों के पात्र, घटना चक्र और वर्णन को पूर्णतः भारतीय रूप प्रदान किया, जिससे वे यहाँ की जनता को अधिक ग्राह्य हो सके। इन उपन्यासों के तिलिस्माती चमत्कारों, ऐयारों की विचित्र चालाकियों और प्रेमी-प्रेमिकाओं के अद्भुत प्रेम की चर्चा समालोचकों में पर्याप्त समय से है।

चरित्र-चित्रण में मनोविज्ञान की कमी इन उपन्यासों में स्पष्ट दिखाई देती है, परन्तु यह उपन्यास का शैशव काल था। मनोरंजन ही जनता की मांग थी और उसे पूरी करना उपन्यास लेखक का काम। इन रचनाओं का महत्व यही है कि इन उपन्यासों ने हिन्दी पाठकों की एक बहुत बड़ी संख्या तैयार करदी।

जासूसी उपन्यासों का क्रम...

खत्रीजी के पश्चात् गोपालराम गहमरी के जासूसी उपन्यास भी अपने मनोरंजन के कारण प्रसिद्ध हुये। जासूसी उपन्यासों की रचना अंग्रेजी के डिटेक्टिव उपन्यासों के अनुकरण में हुई है। अंग्रेजी में सर आर्थर कॉनन डॉयल ने शर्लक होम्स नामक एक अद्भुत जासूस की सृष्टि की है। यद्यपि

गहमरीजी के उपन्यासों में हमें कॉनन डायल जैसी सूझ बूझ और कारण कार्य का सम्बन्ध निर्वाह दिखाई नहीं देता फिर भी ये खत्रीजी के अलौकिक और ऐन्द्रजालिक उपन्यासों से हिन्दी उपन्यास की निश्चित प्रगति के सूचक हैं। गहमरीजी के इन उपन्यासों की संख्या १०० से ऊपर है, जिनमें कई बंगला के अर्द्ध सामाजिक उपन्यासों के अनुवाद भी सम्मिलित हैं।

किशोरीलाल गोस्वामी ने उपन्यासों को नई दिशा प्रदान की। उन्होंने ऐयारी, तिलिस्मी और जासूसी इंद्रजाल को छोड़ कर सामाजिक और ऐतिहासिक आधार पर उपन्यासों का प्रणयन किय। गोस्वामीजी के उपन्यास कला की दृष्टि से उच्च नहीं कहला सकते। उनके तथा कथित ऐतिहासिक उपन्यासों में इतिहास का शुद्ध चित्रण नहीं है। सामाजिक उपन्यासों के नाम पर उन्हों ने ने कुत्सित और अश्लील प्रेम को प्रश्रय देने वाले कथानकों की सृष्टी की जो ऐयारी, तिलिस्मी और इन्द्रजाल से पूर्णतया स्वतंत्र नहीं है। इतना होना पर भी यह तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि गोस्वामीजी उपन्यास को मानव जीवन के अधिक निकट लाने में समर्थ हुये।

गोस्वमीजी के पश्चात् मौलिक उपन्यास लेखन का कार्य यकायक अवरुद्ध होगया। अनुवादों की एक बाढ सी आ गई। बंगला, मराठी, अंग्रेजी आदि भाषाओं से बीसियों उपन्यास अनुवादित हुये। बांकिमचन्द्र, रवीन्द्रनाथ, शरतचन्द्र आदि के ग्रंथों का अनुवाद इसी युग में हुआ। अनुवादकों में ईश्वरीप्रसाद शर्मा, रूपनारायण पाण्डेय और रामचन्द्र वर्मा की विशेष धूम रही।

उपन्यास युग का नया अध्याय–प्रेमचंद युग

उर्दू में नवाबराय के नाम से लिखने वाले मुन्शी धनपतराय ने जब प्रेम चन्द के नाम से प्रवेश किया तब युगांतरकारी परिवर्तन उपस्थित हुआ। विद्यार्थी काल से ही प्रेमचन्द को उपन्यासो में विशेष रुचि थी। उन्होंने उस समय देवकी-नन्दन खत्री की चन्द्रकान्ता संतति, तिलिस्म होशरुबा, रविन्द्र और बंकिम के उर्दू अनुवाद पढ़े थे। प्रेमचन्द के रूप में एक नवीन प्रतिभा का

प्रगतिवाद के प्रचार ने सामाजिक समस्या मूलक और
प्रधान उपन्यासों को पीछे धकेल दिया है। नवीनतम उपन्यासों में
संघर्ष के चित्रण और साम्यवादी कार्यवाहियों के वर्णन की प्रधानता
है। प्रगतिवाद के दर्शन के अनुसार आर्थिक समस्या के अतिरिक्त
अन्य प्रश्न गौण हैं अतः धर्म, अध्यात्म आदि प्रतिगामी सिद्धांतों का
के स्वीकार नहीं किया जा सकता। यशपाल, उपेन्द्रनाथ 'अश्क'
धारा के प्रमुख लेखक हैं। अब प्रगतिवादी मार्क्स साम्यवादी विचारधारा
प्रधान उपन्यासों की भी समाप्ति की बाट देख रहा है। अज्ञेय के 'नदी
द्वीप' और डा० देवराज के 'पथ की खोज' आदि उपन्यास
सूचना दे रहे हैं।

★

उपन्यास पर वास्तविकता का परिधान होना चाहिए

• श्री जैनेन्द्रकुमार

'जैसे अंगूर पर छिलका होता है, वैसे ही उपन्यास पर वास्तविकता का परिधान होना चाहिए। छिलका केवल रस की सुरक्षा के लिए है। जिसे रस चाहिए वह छिलके को देखेगा भी नहीं। रस पीना है तो उसे छील कर छिलका फेंकने के लिए तैयार होना होगा। यह सही है कि छिलका न होने पर रस एकत्र होने का अवसर ही न पायेगा। लेकिन बस, इससे अधिक उस छिलके का प्रयोजन नहीं। वास्तविकता का प्रयोजन भी इससे अधिक नहीं है।......

'पत्तों की गिनती में वृक्ष का सत्य निहित नहीं है। उसकी शोध में गहरे जाना हो तो उसका रस लेना होगा। उस रस की बूंद में ऊपर से यह भी पता न चलेगा कि वह किस वृक्ष का है और इसके कैसे पत्ते रहे होंगे, रस की बूंद में पेड़ की लम्बाई-चौड़ाई और उसकी विविधता का कुछ भी प्रभाव नहीं रह जाता। उस रस के पृथक्करण से इसीलिए वृक्ष का अधिक सत्य प्राप्त किया जा सकता है क्योंकि वहाँ उसकी रूपाकारगत इयत्ता एकदम गौण वस्तु रह जाती है। उपन्यास में वास्तविकता का भी यही स्थान है।'

("साहित्य का श्रेय और प्रेय" से उद्धृत)

पञ्च-द्राविड़ और कन्नड़

श्री० सोहनलाल सिसोदिया

कन्नड़— पञ्च-द्राविड नामक प्रख्यात भाषा-वर्ग में की एक भाषा है। इस वर्ग में तामिल, तेलुगु, मलयालम और तुलु भी सम्मिलित हैं। हमारे देश के प्राचीन पण्डितों ने मराठी व गुजराती को भी द्राविड़-भाषा-वर्ग में मिलाया है किंतु ये भाषाएँ संस्कृत -जन्य होने के कारण आधुनिक भाषा-तत्त्वज्ञ, इनको एतज्जातीय—बंगाली, सैन्धवी आदि गौड़-भाषा-वर्ग में मिलाते हैं।

द्राविड़-गौड भाषा-वर्ग के पारस्परिक-भेद

द्राविड भाषाओं में कुछ संस्कृत-पद व संस्कृत-भाषानुसार कुछ २ प्रयोग-विशेष मिलने पर भी भाषाओं के पारस्परिक सम्बन्ध-निर्णयार्थ मुख्य-साधन व्याकरण का परिशीलन कर देखने से संस्कृत-भाषा-मार्ग व द्राविड़ भाषा मार्ग का सम्बन्ध नहीं होना ही व्यक्त होता है।

मराठी आदि गौड़ भाषाओं में संस्कृत-जन्य शब्दों के अतिरिक्त अल्प-स्वल्प स्वतंत्र शब्दों के होते हुए भी व्यवहार में अभीष्ट सारे शब्द प्रायः संस्कृत जन्य ही हैं। इसके अतिरिक्त उन भाषाओं में लिंग-निर्णय, सन्धि, प्रत्यय-संयोजन आदि वैयाकरणिक-प्रक्रियाएँ, संस्कृत-व्याकरण-मर्यादानुसार ही हैं। द्राविड़-भाषाओं में वही ऐसा नहीं है। इनमें संस्कृत-जन्य कुछ शब्द सम्मिलित होते हुए भी, व्यवहार में अभीष्ट शब्द प्रायः स्वतन्त्र हैं और व्याकरण-मर्यादा भी संस्कृत से बहुत कर भिन्न ही है। इन भाषाओं में लिंग ही अर्थ का अनुसरण करता है। सन्धि-क्रम भी अलग है। नाम-पदों में एक-वचन, बहुवचन, दोनों में एक ही प्रकार के विभक्ति व प्रत्यय ल- हैं; गुण-वाचकों के लिये तर-तम-भाव नहीं है, सम्बन्धार्थक सर्वनाम

है; कर्म-प्रयोग भी विशेषकर नहीं है, क्रियाओं में निषेध रूप है; कृदन्त प्रत्यय अलग हैं।

इतर-द्राविड़ भाषाएँ

उपरोक्त पञ्च-द्राविड़ भाषाओं के अतिरिक्त इस वर्ग में सम्मिलित-तुदव, कोडगु, बडग, कोत आदि कुछ क्षुद्रक-भाषाएँ दक्षिण-भारत में इतस्ततः व्यावहार्य हैं। इनके अतिरिक्त हिन्दुस्तान के इतर-प्रान्तों में भाष्य—गोंड़, कु, अथवा ग्वाण्ड्, ओरायन, राजमहाल, नामक भाषायें एवम् बलूचिस्तान के एक भाग में प्रचलित ब्राही नामक भाषा, द्राविड़-भाषा-वर्ग में सम्मिलित है, ऐसा भाषा तत्त्वज्ञों ने निर्णय किया है।

पञ्च-द्राविड़ भाषाओं के प्रचलन का प्रदेश

पञ्च-द्राविड़—मराठी, गुजराती, ओड्री; ये भाषाएँ जहां प्रचलित है वे भाग व साथ ही साथ विन्ध्य-प्रदेश से कन्याकुमारी तक प्रचलित हैं।

द्राविड़-भाषियों की संख्या

भारत के विविध-भागों में द्राविड़-भाषियों की संख्या सन १९२१ की जन-गणना के आंकड़ों में ४ करोड़ और ४० लाख थी ऐसा विदित होता है (किन्तु वर्तमान जन-गणना के आंकड़े अभी उपलब्ध नहीं हो पाये हैं)

द्राविड़-भाषियों की प्राचीनता

द्राविड़-भाषाएँ बहुत प्राचीन हैं क्योंकि द्राविड़ शब्द का प्रयोग महाभारत व मनु, पराशर, वराहमिहिर और कुमारिल भट्ट के ग्रन्थों में मिलता है। ई० पू० पञ्चम शताब्दी के आसपास अवतरित विहिस्तन टाइचेट्स् नामक शासन की भाषा व्याकरण-मर्यादा में द्राविड़-भाषाओं से तुलनीय है, ऐसा पाश्चात्य पण्डितों ने लिखा है।

द्राविड़ों की नागरिकता

[द्रा]विड़ लोग, आर्यों के आगमन के पूर्व नगरों का निर्माण कर

राजतन्त्र में कुछ २ निपुण हो, कृषि-वाणिज्यों का ज्ञान प्राप्त कर, जलपोतों पर इतर-देशों के साथ व्यवसाय चलाते थे ऐसा ज्ञात होता है। इससे इनमें कहाँ तक नागरिकता थी इसका अनुमान लगाया जा सकता है।

दक्षिण-भारत की द्राविड़-भाषाएँ

दक्षिण-भारत में प्रचलित—तामिल, तेलुगु, कन्नड़, मलयालम तुलु, तुदव, बडग, कोत, कोड़गु वगैरह द्राविड़-भाषाओं में प्रथम चार भाषाओं में वर्ण-मालाएँ, व्याकरणों और ग्रन्थ हैं इसलिये इन्हें ग्रान्थिक-भाषाएँ कहा जा सकता है। अन्य भाषाओं में स्वतन्त्र वर्ण-मालाएँ भी नहीं हैं। ये केवल व्यवहारिक-भाषाएँ हैं। उनमें से कुछ भाषाओं की पुस्तकों को इतर-द्राविड-भाषा-लिपियों में लिख कर मुद्रण करवाने की पद्धति है। ये सब भाषाएँ कन्नड़ का आभास है ऐसा विदित होता है।

ग्रान्थिक-द्राविड़-भाषाएँ

तामिल, तेलुगु, कन्नड़ व मलयालम नामक ग्रान्थिक-द्राविड़-भाषाओं में मलयालम भी तामिल के आभास में अवतरित होकर, बहुत समय पूर्व ही स्वतन्त्र-भाषा हो गई ऐसा कुछ लोग कहते हैं। शेष तीनों भाषायें शब्द-रूप में व व्याकरण-मर्यादा में भी विशेष सम्बन्धित हैं। ये सभी संस्कृत से भिन्न किसी एक मातृ-भाषा से अवतरित हैं। उसी से ये भाषाएं परस्पर सहोदर-जात बहिनें हैं ऐसा कहा जा सकता है। उनमें भी कन्नड़—शब्द-रूप में व व्याकरण-मर्यादा में भी, तामिल और तेलुगु से विशेष तुलनीय है।

तामिल-भाषी अपनी भाषा के नामात्मक शब्द 'तामिल' को मधुर अर्थ वाला बतलाते हैं वैसे ही तेलुगु-भाषी भी 'तेनुगु' शब्द को माधुर्यवाची बतलाते हैं। कन्नड़ शब्द की व्युत्पत्ति आगे बताई जायेगी। तामिल में अगस्त्य ऋषि ने व तेलुगु में कण्व ऋषि ने ही आदि-कवि होकर ग्रन्थों का निर्माण किया ऐसा प्रतीत होता है लेकिन कर्णाटकी अपनी भाषा के किसी ऋषि का होना नहीं बतलाते हैं।

कन्नड़-भाषा का प्रचार व जन-संख्या

नृपतुङ्ग (ई० ८१४—८७७) के 'कविराजमार्ग' शीर्षक ग्रन्थ में लिखा है कि कन्नड़-भाषा कावेरी से गोदावरी तक प्रचलित है और किसुवोलल (Kisuvolal) कोपण, पुलिगेरे और ओंकुन्द के बीच के प्रदेश में ही शुद्ध कन्नड़ का सत्त्व पाया जाता है। आदिपम्प (ई० ९४१) ने अपने ग्रन्थ की रचना के समय कहा है कि पुलिगेरे शुद्ध कन्नड़ वाला है (पुलिगेरे तिरुळ् कन्नडदोळ्)।

आधुनिक-कन्नड़-भाषा

मैसूर संस्थान (स्टेट), कोडगु या कुर्ग, बम्बई आधिपत्य (प्रेसीडेन्सी) के दक्षिणी जिल्ले, हैदराबाद संस्थान (स्टेट) के पश्चिमी भाग मैसूर-कुर्ग के उत्तर पश्चिम दक्षिण दिशस्थित मद्रास आधिपत्य (प्रेसीडेन्सी) के जिले, मध्यप्रान्त और बरार के कुछ भागों में इसका प्रचार है। कन्नड़-भाषियों की संख्या सन् १९०१ की जन-गणना के आंकड़ों के अनुसार एक करोड़ है।

कर्णाटक की प्राचीनता

कर्णाटक प्रदेश बहुत समय पूर्व ही प्रसिद्ध हो चुका था ऐसा ज्ञात होता है। मैसूर के उत्तर-पश्चिम में स्थित बनवासी नगर (जो कदम्ब के राजधानी था) को ई० पू० तीसरी शताब्दी में महाराज अशोक ने एक बौद्ध-मतोपदेशक-मण्डल भेजा था ऐसा 'महावंश' (बौद्ध-ग्रन्थ) में लिखा है ई० स० दूसरी शताब्दी में टालमी (Ptolemy) ने भी बनवासी का वर्णन किया है। दूसरी शताब्दी में ही मामुलनार के 'अहनानुरु' (Aga-nanuru) नामक ग्रन्थ में न केवल महिष-मण्डल (मैसूर) का पर्याय एरुमैनाडु ही वर्णित है किन्तु एरुमैनाडु के शासक ने पाण्ड्य राजा नेडुंजेलियन (द्वितीय) से विरोध करके उस काल के चोल और केरल राजाओं के साथ अपनी शक्ति संयुक्त की थी उसका भी वर्णन है। इसके अतिरिक्त निम्न ईजिप्ट (Lower Egypt) देश में आक्सिरिंकस (Oxyrhyncus) नामक स्थान से प्राप्त दूसरी शताब्दी में रचित एक ग्रीक नाटक में भी कुछ कन्नड़ श

और वाक्य प्रयुक्त हैं ऐसा ज्ञात हुआ है। पाँचवीं शताब्दी के प्रारम्भ में वराहमिहिराचार्य के ग्रन्थ में भी कर्णाटक शब्द उक्त है।

कर्णाटक शब्द की व्युत्पत्ति

कर्णाटक शब्द की व्युत्पत्ति के विषय में भिन्न २ अभिप्राय हैं। केशवर्णी (सन् १३५६) नामक एक जैन पण्डित व प्रसिद्ध कन्नड़-लेखक यह अभिप्राय धारण करते दिखलाई देते हैं कि यह शब्द संस्कृत की कर्ण धातु से उत्पन्न है जो भेदनार्थक है व कहते हैं कि दिव्य-भाषा संस्कृत से अलग रह कर, लौकिक व्यावहार्य भाषा बनने के कारण इसका कर्णाट नाम पड़ा। 'विश्वगुणादर्श' नामक संस्कृत-ग्रन्थ के रचयिता वेंकटाध्वरियु (सन् १७००) कहते हैं कि कर्णेन अटति सः कर्णाटक अर्थात् सब के कानों में पड़ कर प्रसिद्ध होने के कारण इसका कर्णाट नाम पड़ा। डाक्टर गुण्डर्ट के मतानुसार कर+नाडु (काली मिट्टी वाला प्रदेश) से कर्णाट नाम पड़ा मालूम होता है। इस व्युत्पत्ति का डाक्टर काल्डवेल् ने भी अनुमोदन किया है। केशिराज और भट्टाकलंक ने भी कन्नड़ शब्द को कर्णाट का अपभ्रंश कहा है।

कन्नड़-वर्ण-माला

द्राविड़ भाषाओं की सारी वर्ण-मालाएँ अशोक-शासन-काल की लिपि से विकृत प्राचीन देव नागरी लिपि से उत्पन्न हुई हैं ऐसा कुछ पाश्चात्य-पण्डित कहते हैं। देवनागरी व द्राविड़-लिपियों में अब दिखलाई देने वाले अन्तरों का—ताड़ पत्रों पर कण्ठ से लिखवाने की दक्षिण देश की पद्धति, ही एक प्रबल कारण है ऐसा अभिप्राय है। द्राविड लिपियों में कन्नड़ व तेलुगु, वैसे ही तामिल व मलयालम बहुत कर सामान्य हैं। आधुनिक कन्नड़ व तामिल-लिपि का पारस्परिक सम्बन्ध दिखलाई नहीं देता लेकिन इन दोनों भाषाओं में रचित प्राचीन शास्त्रों की परीक्षा कर देखने से इन दोनों लिपियों का विशद सादृश्य प्रतीत होता है। इन भाषाओं की लिपियाँ एक एक काल-क्रम में नाना कारणों से परिवर्तित होती हुई अधुनिक आकृ को प्राप्त हुई हैं ऐसा शास्त्रों से निर्णय किया जा सकता है।

द्राविड़-वर्णमालाओं में—संस्कृत वर्ण-माला में भी न मिलने वाले पाँच अक्षर [ए (ह्रस्व) ओ (ह्रस्व) ळ ऴ और ऱ] हैं। ये पांचों अक्षर तमिल व मलयालम भाषाओं में अब भी प्रचलित हैं। तेलुगु में ऴ कार बहुत पूर्व ही नष्ट हो गया दिखता है। ऱ कार मात्र आज भी प्रचलित है। कन्नड़ में ऴ कार केवल १३वीं शताब्दी तक प्रचलित था तदुपरान्त नष्ट होने पर उसके स्थान में ळ कार ही उपयोग में आने लगा, प्रतीत होता है। ऱ कार कन्नड़ में १८वीं शताब्दी तक रहा था तदुपरान्त उसके स्थान में रेफ ही प्रयोग में आया। [मैसूर राज्य पुरातत्त्व विभाग की खोज के अनुसार-]

❖

तामिल साहित्य के युग प्रवर्तक

श्री सुब्रह्मण्य भारती

के एक ओजस्वी गीत का अनुवाद

श्रम

लोहे को पिघलादो
यंत्र बनाओ
गन्ने को और दबाकर रस बाहर निकालो !
समुद्र में डुबकी लगाकर उत्तम मोती बाहर लाओ।
अपना पसीना बूंद-बूंद इस धरती पर गिरने दो और हजारों कार्यों के लिए श्रम करो ! ..
मैं तुम्हारी महिमा का गान-गरज गाऊँगा।
मिट्टी में से पात्र बनाओ ! वृक्ष काट कर घर बनाओ !
अन्न और फल लाओ ! तेल, दूध और घी लाओ !
सूत कातो और वस्त्र बुनो !
तुम पृथ्वी की रक्षा करने वाले हो, क्या इस रीति से रक्षा पाओगे ?
गीत और काव्य रचो
भारत माताम् गाओ,
पृथ्वी के भीतर वस्तुएँ खोजकर निकालो और उस ज्ञान को विज्ञान में संगठित करो।
तुम ही हमारे चक्षुओं को दिखाई देने वाले देवता हो !!
['दर्शन और वाङ्मय'-(लेखक श्री प्रभाकर माचवे)-के सौजन्य से.]

आचार्य रामचंद्र शुक्लः एक समीक्षा

★

श्री० चिरंजीलाल माथुर 'पंकज'

★

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने हिन्दी साहित्य के प्रत्येक अङ्ग का स्पर्श किया और उसमें सफलता प्राप्त की। शुक्लजी ने शिक्षात्मक, दार्शनिक, ऐतिहासिक और साहित्यिक ग्रन्थों की रचना की। इनमें मौलिक और अनुवाद हैं। अनुवाद गद्यानुवाद और पद्यानुवाद हैं, अनुवाद अंग्रेजी और बंगला से हैं। शुक्लजी की अनूदित कल्पना का आनन्द, शशांक, बुद्ध चरित और मौलिक निबन्धों के संग्रह, चिन्तामणि (त्रिवेणी) सूर, तुलसी और जायसी की आलोचना, सम्पादित सूर के भ्रमरगीत, तुलसी साहित्य और जायसी साहित्य हैं। काशी नागरी प्रचारिणी पत्रिका और हिन्दी शब्द सागर का सम्पादन भी आचार्य शुक्ल ने किया है। यद्यपि शुक्लजी ने साहित्य के सभी क्षेत्रों का स्पर्श किया (क्या कहानी, क्या कविता, क्या अनुवाद) पर आलोचना के क्षेत्र में आ कर शुक्लजी जम गये। इसका कारण शुक्लजी का व्यक्तित्व था। ये स्वाभिमानी, निर्भीक और मननशील, अध्ययनशील, धार्मिक, प्रकृतिप्रेमी और साहित्यप्रेमी थे। उनकी वेषभूषा अवश्य विदेशी थी पर ये भारतीय संस्कृति और सभ्यता के ही पोषक थे। उनकी गुण-दोष के संग्रहत्याग की नीर-क्षीर विवेक की शक्ति ही उनको आलोचना क्षेत्र में जमा पाई।

शुक्लजी की माता गोस्वामी तुलसीदास के वंश की थीं अतः स्वाभाविक ही था कि गोस्वामीजी के प्रति उनके हृदय में श्रद्धा हो। एक प्रकार से शुक्लजी का सारा काव्यसिद्धान्त तुलसी के काव्य के आधार पर निर्मित समझना चाहिए। दूसरा प्रभाव शुक्लजी पर भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का है। भारतेन्दु को लेकर ही शुक्लजी का परिचय प्रेमघनजी से हुआ। उनकी प्रेरणा से शुक्लजी ने स्वयं कई कविताएं लिखीं और कई अनुवाद भी।

उनकी कविताएँ और अनुवाद का विशेष साहित्यिक महत्व नहीं है फिर भी प्रकृति-चित्रण अच्छा बन पड़ा है इसका कारण मिर्जापुर-उनका जन्मस्थान है। वहां के प्राकृतिक दृश्यों से उन्हें अत्यधिक प्रेम था।

हिन्दी साहित्य में आधुनिक शैली के निबन्धों के लिखने की प्रेरणा आंग्ल साहित्य से मिली है और यह भारतेन्दुकाल में ही हिन्दी को प्राप्त हुई है। आचार्य शुक्ल निबन्ध को ही गद्य की कसौटी कहते हैं, यथा "भाषा की पूर्ण शक्ति का विकास निबन्धों में ही सबसे अधिक सम्भव है।" चिन्तामणि में शुक्लजी के दो प्रकार के गद्य हैं—भावात्मक और समीक्षात्मक। समीक्षात्मक निबन्धों में भी दो श्रेणियां हैं। सैद्धान्तिक समीक्षा और व्यावहारिक समीक्षा। सभी निबन्धों का प्रतिपादन मनोवैज्ञानिक ढंग से हुआ है फिर भी भावात्मक निबन्धों का अधिक महत्व है। इनमें क्रोध, घृणा, भय और उत्साह आदि की शैली और विषय प्रतिपादन अधिक अच्छे हैं। शुक्लजी के निबन्धों में विचारों की कसावट मिलती है। शुक्लजी ने विचारात्मक निबन्धों में अपने विषय का गहराई के साथ प्रतिपादन किया है।

निबन्ध साहित्य

इनके निबन्धों की विशेषता यही है कि वे विषय प्रधान होते हुए भी व्यक्तित्व प्रधान होते हैं। गुलाबराय के विचारों में शुक्लजी ने "निबंध साहित्य की शैली की वैयक्तिकता और उसके पूर्ण सौष्ठव के साथ एक ठोस और सुसम्बद्ध विचार सामग्री प्रदान की है। उनके निबंध विषयगत होते हुए भी केवल शास्त्रीय सिद्धान्तों के उद्घाटन मात्र नहीं है वरन उनमें शैली और विचारधारा का एक सुन्दर निक्षेपन है जिस को उन के हास्य व्यंग की चामत्कृत चुटकियों ने और भी निखार दिया है।"

गम्भीर समीक्षात्मक निबंधों की भी भाषा सरल है और उनमें ...ों का सुन्दर प्रयोग मिलता है। निबंध भाषा-शास्त्री की दृष्टी से ...कोटि के और बेजोड़ हैं।

<u>आलोचना साहित्य</u>
<u>सूर, तुलसी, जायसी</u>

हिन्दी साहित्य के आधुनिक समालोचना के जन्मदाता और आदि गुरु यदि शुक्लजी को कहा जाय तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। हिन्दी आलोचना के सिद्धान्त पहले संस्कृत साहित्य के आधार पर थे और बाद में अंग्रेजी साहित्य के आधार पर। शुक्लजी के पूर्व के प्राय. सभी आलोचको का आधार संस्कृत के लक्षण ग्रंथों पर था [illegible] नहीं—शुक्लजी ने स्वयं अपने मौलिक सिद्धान्त निर्धारित किये। शुक्लजी हिन्दी के पहले आलोचक हैं जिन्होंने अपना निजी काव्य सिद्धान्त [illegible] किया और उसी के अनुसार आलोचनाएँ प्रस्तुत कीं। [illegible] आलोचनाओं को हम आलोचनाभास कहें तो अधिक [illegible] आलोचना नहीं। शुक्लजी ने संस्कृत काव्यशास्त्र और [illegible] सिद्धान्तों का सुन्दर समन्वय किया है और संस्कृत के पारि[illegible] जोड़ के अंग्रेजी समीक्षात्मक शब्द खोज निकाले हैं। [illegible] नवीन सिद्धान्तों के अतिरिक्त कुछ नवीन शब्दों का [illegible] कुछ प्राचीन पारिभाषिक शब्दों का सम्यक अर्थ प्र[illegible]

यह ऊपर कहा जा चुका है कि शुक्लजी ने [illegible] निर्धारित किये हैं और उन्हीं के आधार पर [illegible] आलोचनाएँ की हैं। शुक्लजी ने दो प्रकार की [illegible], निश्चित और व्यावहारिक। सैद्धान्तिक आलोचनाएँ [illegible] है। यह के कारण विश्लेषणात्मक हैं। यह [illegible] लोचनाएँ बन ही श्रेष्ठ बन पड़ी है। विचारात्मक [illegible] होता है इसमें समीक्षक अपनी रुचि [illegible] करता। आलोचक तटस्थ हो कर [illegible] विवेचनात्मक आलोचना का [illegible] आलोचना का नहीं। शुक्लजी [illegible] अतिरिक्त पाठकों की भी [illegible]

आलोचना का समर्थन किया है। इसके साथ ही आवश्यकतानुसार निर्णयात्मक आलोचना का भी समर्थन शुक्लजी ने किया है। इन आलोचक की विद्वता झलकती है।

शुक्लजी ने विवेचनात्मक आलोचना में लोकधर्म पर अधिक ध्यान दिया है और इसी दृष्टि से उन्होंने सूर, तुलसी और जायसी की आलोचना की है। उनका मत है "सच्चा कवि वही है जिसे लोकहृदय की पहचान हो जो अनेक विशेषताओं और विचित्रताओं के बीच मनुष्य जाति के सामान्य हृदय को देख सके। इसी लोकहृदय में हृदय के लीन होने की दशा का नाम रसदशा है।" (चिन्तामणि) शुक्लजी कविता को लोक सामान्य की भाव-भूमि पर लाकर कवि के हृदय के वैयक्तिक क्षुद्रताओं को मुक्त कर देते हैं इसी मानदण्ड से इनकी आलोचनाएँ हुई हैं। लोकधर्म के कारण ही तुलसी को शुक्लजी ने शीर्षस्थान दिया है। जायसी की आलोचना करते समय भी शुक्लजी ने लोकधर्म के बीज खोजने का प्रयत्न किया है। शुक्लजी काव्य में जीवनगत मूल्यों की अनेकरूपता चाहते हैं। "कला कला के लिये नहीं जीवन के लिए है।" यह सिद्धान्त शुक्लजी का है और काव्य को वे कला से भी कहीं ऊपर की वस्तु मानते हैं।

शुक्लजी के जीवनगत मूल्यों को मान देने वाला आदर्श तुलसी के राम है। राम के वनवास के वर्णन पर वह मुग्ध हैं क्योंकि उसमें वर्णन पावन और लोक आकर्षण है– शील की हृदयग्राही व्यंजना है। शुक्लजी सगुणभक्तों की ओर सदैव रुचिपूर्ण रहे हैं, निर्गुणभक्तों की प्राय कटु आलोचना की है। उनकी यह रुचि भी तुलसी के आधार पर ही निर्मित है। तुलसी ने 'निर्गुणिए सन्त' कवियों को फटकारा है सो शुक्लजी ने भी अनुसरण किया है।

जायसी और सूर की आलोचनाएँ 'प्रेमव्यंजना' की दृष्टि से रस की की गई हैं। वह स्वाभाविक प्रेम को ही सच्चा प्रेम मानते हैं। यहाँ भी लोकधर्म का प्रभाव है। वे संकुचित और एकान्तिक प्रेम का समर्थन नहीं

करते। इसी एकान्तिकता के कारण वे दोनों से तुलसी के प्रेमवर्णन को अच्छा मानते हैं।

अलङ्कार को काव्य में वे प्रधानता नहीं देते यही कारण है कि शुक्लजी केशव को स्थान स्थान पर हृदयहीन कह कर सम्बोधित करते हैं। लेकिन जहाँ तुलसी के अलङ्कारों की बात आती है वहाँ "उन्होंने अलङ्कार की भद्दी रुचि रखने वालों को भी निराश नहीं किया............।" इत्यादि कह कर तुलसी के गौरव की रक्षा कर लेते हैं।

शुक्लजी ने जायसी की आलोचना करते समय यथा स्थान तुलनात्मक आलोचना को भी स्थान दिया है। शैली, वर्ड्सवर्थ, आर्नल्ड आदि अंग्रेजी कवियों से जायसी के समान भावों को रख कर उनको तोला है और विचार किया है।

तुलसी और जायसी के समान सूरदास की आलोचना इतने विस्तार से नहीं की गई है। सूर की आलोचना छोटी है। सूर पर ऐतिहासिक, सामाजिक तथा साहित्यिक विवेचन पूर्ण नहीं हो पाया। उन्होंने केवल लोकपक्ष, शक्ति, शील और सौन्दर्य की विवेचना करके ही सूर की आलोचना की है। लेकिन सूर की आलोचना में भावों, विभावों की मार्मिक छानबीन शुक्लजी ने की है। *यहाँ हृदयपक्ष पर अधिक विचार किया गया है* जो सूरदास के साथ पूर्ण न्याय ही है।

शुक्लजी ने अपने साहित्य सम्बन्धी जो भी सिद्धान्त एक बार निश्चित् किए उनका पालन प्रत्येक आलोचना में आदि से अन्त तक किया है। यह सच्चे समालोचक की विशेषता है, इसी से समीचीन समालोचनाएँ बन पड़ी हैं।

<u>भाषा शैली</u>

शुक्लजी की भाषा खड़ी बोली है लेकिन साथ ही आजकल की प्रचलित ब्रजभाषा का पुट भी है और उस पर भी समान अधिकार है। इनकी भाषा संयत, परिष्कृत एवं प्रौढ़ और गम्भीर साहित्यिक है। शुक्लजी की

नयी सुली होती है, नाममात्र भी शिथिलता नहीं आ पाती। शब्द-चयन बड़ी सावधानी के साथ विचारों और भावों के अनुकूल होता। उनकी भाषा की एक विशेषता यह है कि यह गम्भीर विषयों पर विचार करते समय और आलोचनात्मक निबन्धों में संस्कृतगर्भित, और क्लिष्ट है। इससे विषय का चिन्तन एवं स्पष्टीकरण ठीक हो पाता है। पर निबन्धों की भाषा सरल और व्यावहारिक होने के कारण सजीव होती है।

शब्दों के चयन के सम्बन्ध में शुक्लजी की अनेक विशेषताएँ पाई जाती हैं। उन्होंने कई नवीन शब्दों का निर्माण कर हिन्दी की अभिव्यंजनात्मक शक्ति में वृद्धि की है। उन्होंने कई अप्रचलित शब्दों का पुनरुद्धार किया और अन्य अप्रचलित एवं प्राणहीन शब्दों का प्रयोग नहीं किया। आलोचना में अंग्रेजी शब्दों का प्रयोग हिन्दी के लिए उनकी एक नई देन है। हास्य व्यंग की चुटकी लेने के हेतु शुक्लजी ने स्थान स्थान पर उर्दू के शब्दों का भी प्रयोग किया है। भाषा का उतार चढ़ाव शुक्लजी के भावों के उतार चढ़ाव के समान ही रहता है। इससे प्रवाह की गति बनी रहती है।

शुक्लजी की आलोचना शैली नवीन शा'त्रीय तत्वों की विवेचना के कारण गंभीर हो गई है, फिर भी कहीं कहीं गंभीर विषय होते हुए भी सरल एवं बोधगम्य शैली का प्रयोग किया है। जायसी की आलोचना करते हुए शुक्लजी ने तुलनात्मक शैली का भी प्रयोग किया है। पद्मावत की प्रेम पद्धति का विवेचन करते हुए भारतीय प्रेम पद्धतियों एवं फारसी के मसनवियों की प्रेम पद्धति से भी उन्होंने तुलना की है।

शुक्लजी की शैली की सब से बड़ी विशेषता यह है कि जो बात वह गम्भीर विचार धारा में क्लिष्ट शब्दों में कह जाते हैं आगे उसी का स्पष्टीकरण सरल एवं सुबोध भाषा शैली में कर देते हैं जिससे उनकी आलोचना केवल साहित्यिकों की आलोचना न रहकर जन साधारण के भी उपयोग की वस्तु बन जाती है।

प्रभावात्मक रूप योजना और रूपक योजना भी उनकी शैली की विशेषता है। उनकी शैली में भावात्मकता और व्याख्यात्मकता भी मिलती है। इसी प्रकार हास्य, व्यंग और विनोद भी उनकी शैली की विशेषता है। प्राय: गम्भीर विवेचन के पश्चात् ही एकाध छींटा मार कर पाठक के हृदय में गुदगुदी पैदा करने का प्रयत्न करते हैं। उदाहरणार्थ "इस सफाई के सामने हजारों वकीलों की सफाई कुछ नहीं है, इन कसमों के सामने लाखों कसमें कुछ नहीं हैं।" कहीं २ हास्य व्यंग में अंग्रेजी शब्दों का भी प्रयोग किया है जैसे, "उद्धव के ज्ञान-योग का पूरा लेक्चर सुन कर उसे अपने सीधे-सादे प्रेम की अपेक्षा कहीं दुर्गम और दुर्बोध देख कर गोपियां कहती हैं।" इसी प्रकार जायसी में फारसी के प्रेम दर्शन का वर्णन करते हुए उसमें यार की संगदिली या बेवफाई की शिकायत—निष्ठुरता के उपालम्भ की जगह पहले तो नहीं होती आगे चल कर हो जाय तो हो जाय।" यहाँ उर्दू फारसी के शब्दों का उचित प्रयोग द्वारा हास्य व्यंग की उत्पत्ति की गई है। ठीक इसी प्रकार मिश्र बन्धुओं पर व्यंग करते हुए शुक्लजी ने कहा है "आश्चर्य ऐसे लोगों पर होता है जो 'देव' कवि के 'छल' नायक संचारी ढूंढ निकालने पर वाह वाह का पुल बाँधते हैं और देव को एक आचार्य मानते हैं। ठीक इसी प्रकार तुलसी को रहस्यवादी बतलाने वालों के लिए शुक्लजी ने कहा है "उनकी रचना को रहस्यवाद कहना हिन्दुस्तान को अरब या विलायत कहना है।"

उन्होंने आलोचना में अधिक गम्भीर और क्लिष्ट भाषा के प्रयोगों से गवेषणात्मक शैली के साथ दार्शनिक भाव भी प्रदर्शित किये हैं लेकिन शुक्लजी में मुहावरों के प्रयोगों का अभाव अवश्य है।

भावात्मक शैली के जन्मदाता शुक्लजी स्वयं हैं इसका प्रयोग मनोवैज्ञानिक निबन्धों में पाया जाता है। इसमें वाक्य छोटे, व्यवस्थित एवं व्यावहारिक भाषा और भावव्यंजना स्वाभाविक होती है। वे एक के बाद दूसरे विचार को शृंखलाबद्ध प्रकट करते हैं।

जायसी की आलोचना में 'मदेमड़ा' शब्द की विवेचना का शुक्लजी ने एक शब्द की विशेषता का उद्घाटन करके कवि की विशेषता प्रदर्शित करने की शैली का आश्रय लिया है। कहीं कहीं काव्यात्मक शैली, पाण्डित्यपूर्ण आलोचनात्मक शैली का भी शुक्लजी ने प्रयोग किया है। शुक्लजी ने आलोच्य के सभी पक्षों पर—भाव एवं कला पक्ष की दृष्टि से स्वस्थ आलोचना की है, एकांगिनी दृष्टि से नहीं।

अतः शुक्लजी ने आलोचना की नई पद्धति नई शैली को जन्म दिया है। हिन्दी आलोचना क्षेत्र के युगप्रवर्तक यदि शुक्लजी को कहा जाय तो अतियुक्ति नहीं होगी। शुक्लजी वास्तव में "हृदय से कवि, मस्तिष्क से आलोचक और जीवन से अध्यापक थे।" ऐसे साहित्यकार वन्दनीय हैं जिनके कारण हिन्दी साहित्य विश्वसाहित्य के समक्ष प्रतिष्ठित किया जा सकता है।

❖

१

जर्मन भाषा के विख्यात कवि श्री गेटे की प्रथम पुस्तक जब प्रकाशित हुई, तो कई समालोचकों ने उसकी धज्जी-धज्जी उड़ा दी। गेटे ने उनकी उन आलोचनाओं में बताये गये मिथ्या दोषों का कोई उत्तर नहीं दिया। उनके कई मित्र आकर एक दिन उनसे कहने लगे—"आप कहें तो हम लोग आपकी ओर से इन समालोचकों को करारा उत्तर दें।" गेटे ने हँसते हुए कहा—"आप लोग करारा उत्तर देने के पहले एक गीत सुनिये।" कहकर उन्होंने मास्टर बर्गर की एक कविता सुना दी—

"जब अखबार उड़ाने वालों की जिह्वा आपको पीड़ा देने लगे, उस वक्त आप उस पीड़ा को ही सांत्वना मानिये। याद रखिये, पुष्पित वृक्ष पर भ्रमर कभी नहीं बैठते हैं।"

मित्र मंडली ने गेटे द्वारा इस कविता-पाठ के बाद अपना पूर्व-विचार स्थगित कर दिया। ['नवनीत']

प्रेमचंद के 'गोदान' की कुछ समस्यायें

★ श्री गुलराज मेहता एम० ए०

गोदान प्रेमचन्द्जी की उपन्यास कला-कुशलता की चरम एवं अन्तिम भेंट है। उसमें उनकी चेतन कला अपने समग्र रूप में मुखरित हो उठी है। उन के अन्य उपन्यासों में तो उनके सिद्धान्तों और सुधारवादी भावना के बादल लक्ष्य अथवा अलक्ष्य रूप में छाये रहते हैं और उनमें कभी कभी वे समस्याओं का समाधान भी करते चलते हैं, यहाँ तक कि अनेक पात्रों को आगे मार्ग न मिलने पर मृत्यु की शरण लेनी पड़ती है परन्तु गोदान इस विधान से सर्वथा भिन्न है। उसमें कला का पक्ष प्रबल है, सिद्धान्त एवं सुधार का नहीं। घटना क्रम स्वाभाविक गति से जैसा बनता आया है वैसा ही चित्रित एवं वर्णित हुआ है और अन्त में समस्याओं के सुलझन की ओर प्रयास नहीं किया गया है। वास्तव में साहित्यिक सुरुचि की दृष्टि से यही उचित और पर्याप्त है।

प्रेमचन्द्जी की जीवन लीला और गोदान की विचार धारा पर दृष्टि डालने पर गोदान के प्रधान पात्र होरी की मृत्यु की छाया में उनकी स्वयं की मृत्यु का पूर्वाभास सा होता है। प्रेमचन्द जी का स्वयं का जीवन भी होरी के ही सामान्तर था। उन्होंने जीवन की आर्थिक कठिनाइयों के बीच अपना जीवन-मार्ग तय किया परन्तु वे अपने विश्वासों से, आदर्शों से नहीं डिगे-यह उनकी आत्मा की शील का सब से प्रबल एवं जीता जागता उदाहरण है।

प्रेमचन्द्जी ने इस उपन्यास में अपने जीवन के अनुभवों का निचोड़ और अन्य उपन्यासों की विषयधाराओं का संगम किया है। इस सारे उपन्यास में दो प्रबल विषय-धाराएँ—एक ओर ग्रामीण जीवन जो कि भारतीय सभ्यता का प्रतीक है और दूसरी ओर नागरिकों का

पश्चिमी सभ्यता की देन है। अबाध गति से बढ़ रही हैं। पश्चिमी सभ्यता के प्रभावों के फल स्वरूप आज हमारा जीवन विषम होता जारहा है।

प्रजातंत्रवाद के नाम पर अब भी गरीब लूटे और पीसे जारहे हैं, जनता की सेवा करने वाले ठेकेदार 'इलेक्शनों' को पैसे के बल जीत कर अपनी स्वार्थ सिद्धि करते हैं। वोट वास्तव में 'नये युग का माया जाल है, मरिचिका है, कलंक है, धोखा है'। प्रेमचन्दजी ने भिन्न भिन्न स्थलों और प्रसंगों के अनुसार सारी अव्यवस्थित समाज की व्यवस्था का विश्लेषण कर यह स्पष्ट कर दिया है कि जब तक सारे समाज की व्यवस्था नीचे से ऊपर तक परिवर्तित न कर दी जायगी तब तक कोई सुधार की आशा नहीं है। सुधारों की बातों का घटाटोप केवल एक दिखावटी आडम्बर है। समाजवाद, सिद्धान्तवाद, समष्टिवाद आदि सारे वाद जीवन को और भी अधिक जटिल बनाने में समर्थ हुए हैं। प्रेमचन्दजी गांधीजी के सिद्धान्तों और कार्यों से पूर्ण रूप से प्रभावित हुए हैं। गांधीजी की भांति प्रेमचन्दजी की दृष्टि गांवों और दलित समाज पर ही पड़ी है और उनके प्रति उनकी पूर्ण सहानुभूति है।

इस प्रकार प्रेमचन्दजी ने, इस उपन्यास में अपने विचारों को स्पष्ट करते हुए, कला के स्वरूप को नवजीवन प्रदान किया है। कथा की गति कहीं भी टूटी नहीं है यद्यपि मेहता का अफगान बन कर आना, झट से झाड़ काट कर नैया बना लेना, मालती को कंधे पर बैठा कर नदी पार करना आदि बातें अवश्य खटकती हैं। कुछ आलोचकों ने शिकार प्रसंग के अन्तर्गत हुए मामीण स्त्री के प्रसंग को निरुद्देश्य बतलाया है परन्तु वास्तव में बात ऐसी नहीं है। यह एक प्राकृतिक जीवन की झांकी है जो हमारे सभ्य जीवन के साम्य और वैषम्य को स्पष्ट करती है।

प्रेमचन्दजी का घरेलूपन एक क्षण भी पाठकों का साथ नहीं छोड़ता। उनकी मानव प्रकृति में पैंठ इतनी तीव्र है कि उनकी अन्तर्दृष्टि सूक्ष्म बातों को भी नहीं छोड़ सकती। वे मानव स्वभाव की कमजोरियों को खूब

समझते हैं और उनके प्रदर्शन बिना वे आगे नहीं बढ़ते-उदाहरणार्थ धुनिया के चिल्लाने पर होरी यही समझता है कि बांस काटने वाले चौधरी ने उसके छोटे भाई की स्त्री के साथ दुर्व्यवहार किया है। वह बिना कारण के पता लगाये ही चौधरी के लात लगाता है और उसकी नहीं सुनता। इस प्रकार मानव कमजोरियां ही जीवन को अधिक जटिल बना देती हैं।

प्रेमचन्दजी ने समाज को अपने उपन्यासों में चित्रित किया है, व्यक्तियों के हृदयगत अन्तर्द्वन्दों को नहीं। उनके पात्र विभिन्न वर्गों के प्रतीक हैं, उनमें स्वयं की कोई व्यक्तिगत विशेषताएं नहीं; उनमें जो जो विशेषताएं हैं वे उनके वर्गों में भी पाई जाती हैं। इसी कारण उनके सदृश्य वास्तविक जीवन में उसी प्रकार के एक नहीं,अनेकों मनुष्य दिखाई देते हैं। उदाहरणार्थ होरी को ही ले लीजिये। उसके सदृश्य अधिकतर किसान ऋण में पिसपिस कर अपना जीवनयापन करते हैं। उनमें एक मर्यादा और सम्मान की भावना होती है,वे पंचों में परमेश्वर का आभास देखते हैं और बिरादरी के अनुशासन का निर्वाह करते हैं क्योंकि उससे अलग स्वतंत्र सत्ता की वे कल्पना नहीं कर सकते। जमींदार व साहूकारों का अन्याय समझते हुए भी वे उनके प्रति किसी प्रकार की बुरी भावना नहीं रखते। विषम परिस्थितियों में वे जीवन को नीरस नहीं समझते, समाज के रीति-रिवाजों का वे निर्वाह करते हैं और पारिवारिक जीवन का भी वे रस लेते हैं, उदाहरणार्थ धनिया और होरी के वार्तालापों में जीवन की नीरसता नहीं झलकती; उनकी बातों का उद्रेक उनके कोमल मृदुल हृदयों से हुआ है। यथा गोबर जमींदारों के प्रति रोष युवकों की प्रकृति के अनुसार स्वाभाविक है। वह समझ नहीं पाता कि होरी राय साहब की क्यों जी-हजूरी करे जब कि कर वसूल करने में उनकी तरफ से कोई रियायत नहीं की जाती। उसकी युवकों-सी उद्दण्डता स्वाभाविक है जो उसमें लखनऊ से लौटने पर गाँव के खून चूसने वाले साहूकारों, कारिन्दों आदि के प्रति प्रकट होती है। नोखेराम जैसे कारिन्दे तथा उनके प्यादे, पटेश्वरी राम जैसे पटवारी, दाता दीन जैसे नारद अधिकतर गांवों में मिलते हैं जिन

कुमार साहित्य परिषद् के प्रथम भारतीय अधिवेशन के अवसर पर—

अन्तर्राष्ट्रीय सांस्कृतिक कला प्रदर्शनी

का भव्य आयोजन

मध्यभारत कुमार साहित्य परिषद् का प्रथम अधिवेशन मुन के सप्ताह में शाजापुर में होने जा रहा है। इस अधिवेशन का उद्घाटन म भारतीय [illegible] परिषद् के सदस्य श्री बालकृष्ण शर्मा "नवीन" करें

इस अधिवेशन में भारत स्थित विदेशी दूतावासों के प्रतिनि राज्य सरकार के मन्त्रीगण व अन्य सार्वजनिक संस्थाओं के प्रतिनि भी भाग लेंगे।

अधिवेशन के अवसर पर परिषद् द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय सांस्कृतिक प्रदर्शनी (International, Cultural and Arts Exhibition) आयोजन किया जा रहा है। इस प्रदर्शनी में भारत रूस, अमरीका जापान, जर्मनी आस्ट्रेलिया, हंगरी, इण्डोनेशिया, इटली व ब्रिटेन कई देश भाग ले रहे हैं।

इस आयोजन से हमारा उद्देश्य विश्वशान्ति की महान् पर जीवन को क्रियात्मक शैली में उभारना है। विश्व के भिन्न भिन्न रहन-सहन, खान-पान, शिक्षा-दीक्षा, खेल-कूद आदि के विभिन्न वि चित्रों द्वारा जनता को जानकारी दे कर हम उनके बीच मैत्रीपूर्ण को और भी दृढ़ बनाना चाहते हैं। चूँकि परिषद् का विश्वास है— विश्वबन्धुत्व की भावना का संचार और उसे क्रियात्मक रूप हम ऐ सम्मिलित आयोजनों द्वारा ही दे सकते हैं।

प्रदर्शनी के लिये आप यथा शक्ति मदद दीजियेगा। आप यदि कोई संग्रह हो तो उसे निम्न पते पर भिजवा दीजियेगा।

(इस प्रदर्शिनी का आयोजन परिषद् की सभी शाखाओं में भ सुविधानुसार किया जायेगा।)

ज्ञानचन्द्र नाहर
संयोजक-मध्यभारत कुमार साहित्य
५ सांठा बाजार, इन्दौ

'काहे री नलिनी तू कुम्हिलानी, तेरे ही नाल सरोवर पानी।
जल में उत्पत्ति जल में वास, जल में नलिनी तोर निवास॥'

अनुभव की तीव्रता के कारण दाम्पत्य भाव को प्रधानता दी गई है—

'नयनन की करि कोठरी, पुतरी पलंग बिछाय।
पलकन की चिक डारि कै, पिय को लियो रिझाय॥'

विरह-वर्णन रहस्यवाद का मूल विषय है। कबीर, जायसी, प्रसाद, महादेवी आदि ने विरह का बड़ी तल्लीनता से वर्णन किया है। कबीर, सर्वत्र प्रियतम की महिमा को ही देखते हैं—

'लाली मेरे लाल की, जित देखी तित लाल।
लाली देखन मैं गई, मैं भी हो गई लाल॥'

छायावाद—आधुनिक सुकुमार कवि को निर्झर में संगीत सुनाई देता है, गुलाब के फूल में स्वास्थ्य और सौन्दर्य की द्योतक किसी रमणी की मुखश्री की मादक आभा दिखाई देती है। सन्ध्या सुन्दरी चुपचाप परी की भांति आकाश में उतरती दिखाई देती है। प्राची की स्वर्ण आभा आशा का सन्देश लाती है। कलियां खिल कर प्रकृति के हृदयोल्लास का परिचय देती हैं। हिमकण हमारे साथ रोते हुए दिखाई देते हैं, जमुना की लहरों में भावुक हृदय को अतीत की आकुल तान सुनाई पड़ती है। इस प्रकार कवि-हृदय प्रकृति के सुरम्य राग से स्पन्दित हो उठता है। रात को चांदनी के प्रेमालिंगन से खिल जाता है, परन्तु प्रात: होते ही विरह वेदना से मुरझा जाता है। यही सप्राण वर्णन छायावाद है। छाया को तरु के नीचे एकाकिनि देख कर . ी अवस्था में कवि भी विलीन हो जाता है:—

"कहो कौन हो दमयन्ती सी तुम तरु के नीचे सोई,
हाय !! तुम्हें भी त्याग गया क्या अलि नल सा निष्ठुर कोई?"

यह संसार, जड़ और चेतन का मिलन स्थल है। कवि प्रकृति में भी हृदय पाता है। वह भी विरह-वेदना से तड़पना जानता है। आधुनिक उपयोगिता वाद से ऊब कर प्रकृति की कटी छटी सीमाओं को पार कर ' मे मानवता के दर्शन करने लगा है। प्रकृति को गोचरता की सीमा में न बाँध कर उससे आत्मीयता स्थापन करने के दृष्टिकोण से न देख कर उसको भावुकता की कसौटी पर कसने की प्रवृत्ति को ही छायावाद कहते हैं।"

'मुद्राराक्षस'—एक संक्षिप्त अध्ययन

★ श्री रामदत्त धानवी
साहित्यरत्न

★

परिचयः—जिस नाटक का हमें एक विवेचन करना है उस नाटक का मूल लेखक विशाखदत्त है जिसने संस्कृत में इस नाटक को लिखा था और शुद्ध हिन्दी में अनुवाद करने वाले श्री बलदेव मिश्र हैं। आपका जन्म-स्थान रुड़की के समीपस्थ का एक ग्राम है। आपकी शिक्षा संस्कृत में हुई थी और विभिन्न संस्कृत नाटकों के आप सफल अनुवादक हैं। नाटककार होने के साथ ही साथ आपको कविता का भी शौक रहा है। 'भग्नतंत्री' आपकी फुटकर मौलिक रचनाओं का संग्रह है। जैसे कि आपके नाटकों में सरलता और तन्मयता का आभास होता है वैसे ही आपकी अन्य रचनाओं में सरसता व सरलता का।

कथानकः—भारतीय इतिहास की मौर्य कालीन सभ्यता का चित्रण करते हुए चन्द्रगुप्त के राज्यशासन की कहानी को नाटक का कथानक बनाया गया है। चन्द्रगुप्त का मित्र चाणक्य है जो चन्द्रगुप्त को राजा बनाने का समर्थक है। उसको एक गुप्तचर आकर सूचना देता है कि चन्दनदास व राक्षस की अंगूठी का पता लग गया है। चन्द्रगुप्त ने पर्वतेश्वर के श्राद्ध के उपलक्ष में ब्राह्मणों को वस्त्राभूषण दिये। विश्वावसु प्रभृति उस दान को ग्रहण कर राक्षस के पास गये। शकटदास को राक्षस का प्रेमपात्र बनाया, भागुरायण को राक्षस के पास गुप्तचर बना दिया। चाणक्य की चाहना थी कि राक्षस चन्दनदास के परिवार को उसको दे देवे परन्तु राक्षस ने कतई मना कर दिया। ऐसी स्थिति में चाणक्य ने राक्षस को बन्दी बना दिया और शकटदास को फांसी की सजा दी, जिसे भागुरायण भगा कर ले गया।

राक्षस का गुप्तचर विराधगुप्त सपेरे के भेष में आकर राक्षस ‹
हाल बता दिया कि विष कन्या के प्रयोग से पर्वतेश्वर की मृत्यु हुई है
चाणक्य की कूटनीति के कारण चन्द्रगुप्त बच गया है और अपने
कार्यकर्ता मारे गये हैं। सिद्धार्थक शकटदास को वहां लाता है और
उसे अपने आभूषण उपहार के रूप में देता है। विश्वावसु आदि गहने
लाते हैं और राक्षस उन गहनों को खरीद लेता है।

शरद ऋतु के पूर्णिमा की चन्द्रिका से प्रमुदित चन्द्रगुप्त ने रा
कौमुदी महोत्सव मनाने की आज्ञा दी। चाणक्य ने उसे रोक दिया, जि
चाणक्य और चन्द्रगुप्त में परस्पर कलह हो गया। उसी समय राक्ष
गुप्तचर कविता पढ़ते हुए वहां आये और कविता का पाठ किया। च
ने १ लाख स्वर्ण मुद्राओं को दान में देने का कहा पर चाणक्य ने उसे
रोक दिया। यह भी कलह की उग्रता का कारण था।

राक्षस का गुप्तचर करभक पटना से आया और उसने चाणक्य
चन्द्रगुप्त में होने वाले कलह का सन्देश सुनाया। मलयकेतु ने राक्ष
सन्मुख युद्ध का प्रस्ताव रखा। क्षपणक से युद्ध का शुभ मुहूर्त पूछने
उसने व्यंग्यात्मक ढंग से मुहूर्त का शुभ दिवस बताया।

चाणक्य के अनुसार सिद्धार्थक आभूषण लेकर आता हुआ मार्ग
क्षपणक से मिलता है। क्षपणक ने बताया कि पर्वतेश्वर की मृत्यु का का
राक्षस की विष कन्या थी। मलयकेतु ने उन्हें बातें करते सुन लिया औ
राक्षस को ही अपने पिता का घातक समझ कर बहुत क्रुद्ध हुआ। भागुर
यण ने उसे शान्त कर दिया। परन्तु बिना प्रमाणपत्र के शिविर के बा
जाते हुए सिद्धार्थक को पकड़ लिया जाता है। उसके हाथ में पकड़े पत्र
पढ़ कर यह संदिग्ध होता है पर सिद्धार्थक अपना भेद नहीं बताता। उस
पीटा गया और खोज खोज के बाद उसके पास गहने व राक्षस की मु
निकली। उसने बताया कि राक्षस ये गहने चन्द्रगुप्त के पास भेज रहा है
क्रोध के आवेश में मलयकेतु ने राक्षस को निकाल दिया और चित्रवर्म
ति को मरवा डाला।

सिद्धार्थक और सुसिद्धार्थक की परस्पर बातचीत में सिद्धार्थक ने अतीत की गाथा सुनाई और यह भी बताया कि मलयकेतु ने पांचों राक्षसों को मरवा डाला, तो उनकी सेना भाग गई। तब भद्रभट, पुरुषदत्त आदि ने मलयकेतु को बन्दी बना लिया। परन्तु चाणक्य ने मलयकेतु को सादर राज्य समर्पित कर दिया। उधर राक्षस निराश्रय भटक रहा है। उसे कुसमपुर के पास मालूम हुआ कि चन्दनदास को फांसी दी जारही है जिसका मुख्य कारण मेरा स्नेह ही है-तब राक्षस स्वयं वध्यस्थल पर अपने आप को समर्पित कर देता है।

जल्लाद चन्दनदास को शूली पर लेजाने को उद्यत है पर राक्षस आगे होकर उन्हें रोकता है। चाणक्य को राक्षस की आने की सूचना मिलने पर स्पष्ट कह देता है कि चन्दनदास के प्राण बचाने का सरलतम उपाय यही कि राक्षस मंत्रीपद स्वीकार करे। राक्षस ने भी चन्दनदास की प्राणरक्षा अन्य उपाय न देख कर मंत्रीपद स्वीकृत कर लिया।

पात्रः-इस नाटक में पुरुष पात्रों का बाहुल्य है। स्त्री पात्रों का अगर कहीं प्रयोग भी हुआ है तो केवल राजमहल में या राज्य दरबार में। इसका एकमात्र कारण चाणक्य-नीति है। चाणक्य का ध्यान राज्य परिवर्तन की ओर था अत: उसे निपुण पुरुषों की ही आवश्यकता थी, चंचल और मृदुभाषिणी नारियों की नहीं। इस नाटक का नायक चाणक्य ही है, क्योंकि राक्षस से मुद्रा प्राप्त करने का षड्यंत्र और अन्यान्य नीति निपुण कार्य करके राज्यतंत्र चलाने वाला वही है। चन्द्रगुप्त तो चाणक्य की नीति के फल को प्राप्त करने वाला है। चाणक्य प्रकाण्ड राजनीतिज्ञ, और प्रगाढ़ पण्डित है। उसकी सफलता का मूल कारण उसका आत्मविश्वास है। इस नाटकमें यत्र तत्र उसके पाण्डित्य और उसकी कूटनीति का प्रदर्शन होता है। उसकी दूरदर्शिता से ही राक्षस की नीति विफल हुई और उसका सिद्धान्त था कि "दैवमविद्वांस: प्रमाणयन्त।" जैसा कि यह आख्यात है, प्रतिशोध की भावना उसमें तीव्र है। शकटार से बदला लेना ही नन्द के वंश का नाश करने का संकेत मात्र था। स्वयं तो 'पदनयन निवासिमि' उस ने कमल दल के...

निर्लेप ही रहा। उसकी विशालता तो उसकी पर्ण कुटी बताती है जिसमें रहना ही उसने उचित समझा और राज्य सम्पदा का तिरस्कार ही किया।

चाणक्य का आत्मगौरव, निस्पृहता और स्वार्थ त्याग ही उसके महानतम गुण थे। चन्द्रगुप्त को वह वृषल के नाम से पुकारता था। चाटुकारिता का उसमें सर्वथा अभाव था। नीति में झूट कपट आदि दोष नहीं माने जाते और इसी से कार्य की सिद्धी की जाती है। कौमुदी महोत्सव पर कृत्रिम कलह कर के उसने अपनी बुद्धि कि प्रगाढ़ता का प्रदर्शन कर दिया। शत्रु के रूप में राक्षस ने भी उसकी इस विशाल प्रतिभा की भूरि भूरि प्रशंसा की है

२. राक्षसः-यह भी ब्राह्मण था और नन्द वंशजों का महामंत्री था। इसकी स्वामिभक्ति अटल थी। नन्दवंश का नाश देख कर वह दुखी हुआ और कुसुमपुर छोड़ कर चला गया परन्तु उसके विचारों में यही चक्र चलता था कि नन्दवंश का खोया राज्य कैसे प्राप्त किया जाय। विचारों में तल्लीन रह कर उसने अपने शरीर पर सुन्दर वस्त्र भूषण धारण नहीं किये। उसकी स्वामिभक्ति की प्रशंसा तो चाणक्य ने भी की है।

> "धनी ईश की सेवा करता धन-हित यह संसार
> आपद में जो साथ न तजते इच्छुक यश-विस्तार,
> प्रभु के मरने पर भी कर जो याद प्रथम उपकार,
> स्वार्थ हीन सब भार उठाते, वे दुर्लभ संसार।"

साथ ही उसकी शस्त्रविद्या, संयम और नीति की दक्षता के कारण ही चाणक्य उसको चन्द्रगुप्त का मंत्री बनाना चाहता है।

> भीरु मूर्ख यदि सेवक होवे भक्त यहां, कुछ लाभ नहीं।
> चतुर परिश्रमशाली भी क्यों, भक्ति हीन से लाभ नहीं ?
> बुद्धि पराक्रम-भक्ति-सहित जो सुख दुख में करते कल्याण
> वे ही सच्चे सेवक नृप के अन्य सभी हैं नारि-समान।

परन्तु इतनी योग्यता होते हुए भी उस में कुछ त्रुटियें थीं। उसके

नैतिक विचार सुदृढ़ और सुलभ नहीं थे, उसीसे वह उनके भंफटों में फंस जाता था। वह अपने ही नियुक्त किये व्यक्तियों की स्मृति न रखता था। उसके हृदय में विव्हलता और आत्म ग्लानि थी। उस में मंत्रित्व था जिसका उदाहरण चन्दनदास को बचाने में उसकी निजी उपस्थिति है।

चन्द्रगुप्त—मौर्य चन्द्रगुप्त इस नाटक का अवश्य ही एक मुख्य पात्र है। परन्तु चाणक्य का सहायक है। अतः मूल पात्र तो चाणक्य ही है। उसके हृदय में चाणक्य के प्रति अटूट श्रद्धा है और कौटिल्य की नीति पर पूर्ण भरोसा भी है-

"आर्य ! इसमें सन्देह क्या है ? किन्तु आर्य को कोई कार्य कभी भी निष्प्रयोजन नहीं होता, इसीलिये हमें प्रश्न का अवसर मिल गया है।"

नाटक के रंगमंच पर इसका प्रत्यक्षीकरण बहुत कम हुआ है परन्तु नाटक की पृष्ठ भूमि का मूलाधार चन्द्रगुप्त और उसकी राज्य करने की अभिलाषा ही है। यह स्वयं नीतिज्ञ और प्रतिभा सम्पन्न है।

चन्दनदास:—वस्तुत. राक्षस का परम मित्र सेठ चन्दनदास ही इस नाटक का मुख्य अग है। इसकी धर्मनिष्ठा और कर्त्तव्यपरायणता ने ही चाणक्य के विचारों को और अधिक कटिबद्ध बनाया था। इसका राक्षस पर अगाध स्नेह था और राक्षस का परिवार अपने सकट कालीन समय में आपके घर पर ही रहता था - उसने भीषणतम दण्ड को स्वीकार करते हुए भी राक्षस के परिवार को सौंपने से स्पष्ट मनाई करदी।

चाणक्य— " अर्थ-लाभ यद्यपि सुलभ, पर अपेण हठ घोर,
कौन करे यह शिवि बिना, कलि में कर्म कठोर,

चन्दन— " मैं तैयार हूं, आप अपने अधिकार के अनुकूल
जैसा चाहें वैसा करें।

प्राणदन्ड के समय उसने हर्ष से कहा कि (मनमें) हर्ष की बात है कि मैं मित्र के लिये नष्ट हो रहा हूं। उत्तमोत्तम चरित्र चन्दनदास का ही है।

मलयकेतु-पर्वतक का पुत्र मलयकेतु अपने पिता की मृत्यु के पश्चात राक्षस के साथ हो चला था। यह चन्द्रगुप्त का प्रति पक्षी था अतः इसी कारण

से नाटक का प्रति नायक भी बना है। स्वयं संदिग्ध विचारों का [illegible]
सन्देह के कारण ही राक्षस को इसने ठुकरा दिया और चित्रवर्मा [illegible]
नरेशों को मरवा डाला था । यह एक सफल पात्र नहीं परन्तु [illegible]
अवश्य था ।

कथोपकथन—मूल नाटक से इस नाटक में कथोपकथन [illegible]
लता है । वास्तविक वाकपटुता इस नाटक में नहीं प्रदर्शित होती। [illegible]
कथन तो विस्तार पूर्वक है परन्तु आपस के विचारों का लेखा [illegible]
कहानी के रूप में या कविता के रूप मे हमारे सामने आता है । [illegible]
समस्त पात्र वाग्पटु नहीं दिखलाई देते हैं- [illegible] तो आंगिक [illegible]

[illegible]

होता और इसका खल नायक एक महान विस्मयकारी प्रतिद्वन्द्वी बनता-[illegible]
यह यहां नही है । चाणक्य और चन्दनदास का कथोपकथन, चाणक्य [illegible]
चन्द्रगुप्त का कथोपकथन, विराधगुप्त व राक्षस का कथोपकथन केवल [illegible]
चित्र के अतिरिक्त और कुछ नहीं है- हरेक पात्र कथन में अमुक काल [illegible]
स्थिति का चित्र खींच देता है और एक नई समस्या बतला देता है। निपुणता
और चातुर्य यहां नहीं हैं- केवल कौटिल्य सचमुच ही कूट नीतिज्ञ ही है।

देशकाल—नाटक में देशकालिक स्थिति सम्पूर्ण रूप से झलकती है।
चाणक्य की नीति और उसका क्रोध उस समय के ब्राह्मण के जीवन का [illegible]
सच्चा उदाहरण हैं । विभिन्न गुप्तचरों का प्रयोग राजकीय सत्ता के [illegible]
गुप्तचरों का प्रमाण है । चन्दनदास का चाणक्य को धन लोलुप उस समय
की घूंसखोरी का प्रगटीकरण है और चन्द्रगुप्त की चाणक्य के प्रतिश्रद्धा, [illegible]
में राज्योत्सव की भूल, राक्षस की स्वामिभक्ति आदि राजाओं की महानता,
प्रजा और [illegible]
का प्रतिनिधि [illegible]

भाषा-शैली—नाटक का मूल रस है वीर-चाणक्य वीर ब्राह्मण था,
चन्द्रगुप्त वीर-संयमी राजा, राक्षस वीर व दृढ़ मंत्री, मलयकेतु वीर सेनानी

निन हुई है। स्कन्दगुप्त (रचना काल-सन् १९२८) जिसका प्रसिद्ध नाटक इसमें प्रसाद की कला, भावना और दार्शनिकता का सुन्दरतम समन्वय होता है। डा० रामनाथ सुमन के शब्दों में—'यह प्रसादजी का सर्वश्रेष्ठ नाटक है। उन्हें यह स्वयं बड़ा अच्छा लगता था।'*

स्कन्दगुप्त की कथावस्तु गुप्तकाल के उस परिच्छेद से ली गई है समय भारतीय संस्कृति अपने उन्नत शिखर पर थी। स्कन्दगुप्त के सिंहासन पर बैठने के पूर्व ही गुप्त साम्राज्य में आन्तरिक षड्यन्त्र उठ खड़े हुए। अनन्तदेवी, प्रपंचबुद्धि और भटार्क की कुमन्त्रणाओं से विदेशी हूण भारत भूमि पर जमने लगे। गुप्त सिंहासन डाँवाडोल हो चला था। इस भयंकर स्थिति में लोकोत्तर उत्साह और पराक्रम से स्कन्दगुप्त ने भारतीय संस्कृति के बिखरे हुए प्रतीकों का संगठन कर आर्य साम्राज्य की रक्षा की। अन्त में चक्रवर्तित्व मिलने पर भी स्कन्दगुप्त ने अपने वैमात्र एवं विरोधी भाई पुरगुप्त को राज सिंहासन सौंप, स्वयं ने आजन्म कौमार जीवन व्यतीत करने की प्रतिज्ञा की। यही स्कन्दगुप्त का मूल कथानक है।

प्रसाद ने अपनी कोमलतम भावनाओं और कल्पनाओं से कथावस्तु के जीवन में प्राण फूंक दिया है। श्री राजेन्द्रसिंह गौड़ के शब्दों में "पुरानी बोतलों में नई रंगीन मदिरा भरी गई है जिसके नशे से आज का साहित्य प्रेमी झूम जाता है।" ‖ यही बात स्कन्दगुप्त में चरितार्थ होती है। कथावस्तु तो उनके भावों और विचारों का माध्यम मात्र है। पतितों को उठाना, पीड़ित मनुष्यों को विश्व मंगलकारी आशावाद का संदेश देना, असत् पर सत् की विजय दिखाना और जड़ को चेतन बनाना प्रसाद का लक्ष्य है और इसी लक्ष्य पूर्ति के लिए उन्होंने भारतीय संस्कृति के स्वर्णिम काल से स्कन्दगुप्त का कथानक लिया।

---

* प्रसादजी का कृतित्व—

‖ नव कवियों की काव्य साधना—पृष्ठ १६१

स्कन्दगुप्त में कथोपकथन—

कथोपकथन नाटक का प्राण होता है। इसका कार्य कथावस्तु को आगे बढ़ाना, पात्रों की विभिन्न मुद्राओं, हाव-भाव और अनुभावों का अनुभव पाठक को कराना और कथावस्तु के उत्कर्ष का साधन बनना है। कथोपकथन की भाषा स्वाभाविक, सजीव, मर्यादित, प्रसादित और पात्रों के अनुकूल होनी चाहिए। इसके अलावा कथोपकथन में अपेक्षाकृत उत्सुकता की मात्रा अधिक होनी चाहिए। स्कन्दगुप्त का कथोपकथन कथावस्तु को स्वाभाविक ढंग से आगे बढ़ाता जाता है परन्तु प्रसाद के दार्शनिक विचारों और कवित्व से कथोपकथन कहीं कहीं इतना बोझिल और क्लिष्ट हो गया है कि पाठक नाटक की भावधारा में बहता हुआ सहसा कुछ क्षणों के लिए रुक जाता है और अर्थ संबंधी कठिनाइयों का अनुभव करने लगता। देखिए स्कन्दगुप्त में धातुसेन कहता है—"अहंकारमूलक आत्मवाद का खण्डन करके गौतम ने विरात्मवाद को नष्ट नहीं किया। यदि वैसा करते तो इतनी करुणा की क्या आवश्यकता थी? उपनिषदों के नेति नेति से ही गौतम का अनात्मवाद पूर्ण है। यह प्राचीन महर्षियों का कथित सिद्धांत, मध्यमा-प्रतिपदा के नाम से, संसार में प्रचारित हुआ; व्यक्ति रूप में आत्मा के सदृश कुछ नहीं है।§"

देवसेना और जयमाला का वार्तालाप ऐसा प्रतीत होता है मानों वे साधारण स्त्रियाँ नहीं वरन् दर्शन की छात्रायें हैं। देखिए—

देवसेना—भाभी! सर्वात्मा के स्वर में, आत्म-समर्पण के प्रत्येक ताल में, अपने विशिष्ट व्यक्तित्व का विस्मृत हो जाना—एक मनोहर संगीत है।......

जयमाला—देवसेना! समष्टि में भी व्यष्टि रहता है।‡......

परन्तु कहीं कहीं स्कन्दगुप्त के कथोपकथन हृदय पटल पर ऐसा मार्मिक प्रभाव डालते हैं कि पाठक स्वयं विस्मृत होकर नाटक के पात्र की भावधारा

§ स्कन्दगुप्त—पृष्ठ १२२.

‡ स्कन्दगुप्त—पृष्ठ ५१.